अश्रु वीणा

आचार्य महाप्रज्ञ

आचार्यश्री महाप्रज्ञ की कालजयी कृति

अश्रुवीणा

(मूल, अन्वय, अनुवाद एवं देव सुन्दरी हिन्दी व्याख्या समलंकृत)

सम्पादक, व्याख्याकार
डॉ. हरिशंकर पाण्डेय
व्याख्याता, प्राकृत एवं जैनागम विभाग
जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूं (राजस्थान)

प्रकाशक
जैन विश्व भारती, लाडनूं

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती लाडनूं-३४१३०६

सौजन्य : श्री बुद्धमल सिंघी के जन्म दिवस के उपलक्ष्य में
उनके सुपुत्र श्री राजकरण एवं कंचन सिंघी
(सिंघी साइकिल मार्ट ३, बेन्टीन स्ट्रीट,
कलकत्ता-७००००१) द्वारा

परिवर्धित संस्करण : १९९९

मूल्य : १००.०० (एक सौ रुपये मात्र)

लेजर टाईप सेटिंग :
गतिमान प्रकाशन, जयपुर
✆ ३२०६५१

मुद्रक :
अग्रवाल प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, जयपुर
✆ ५७२२०१, ५७२६४३
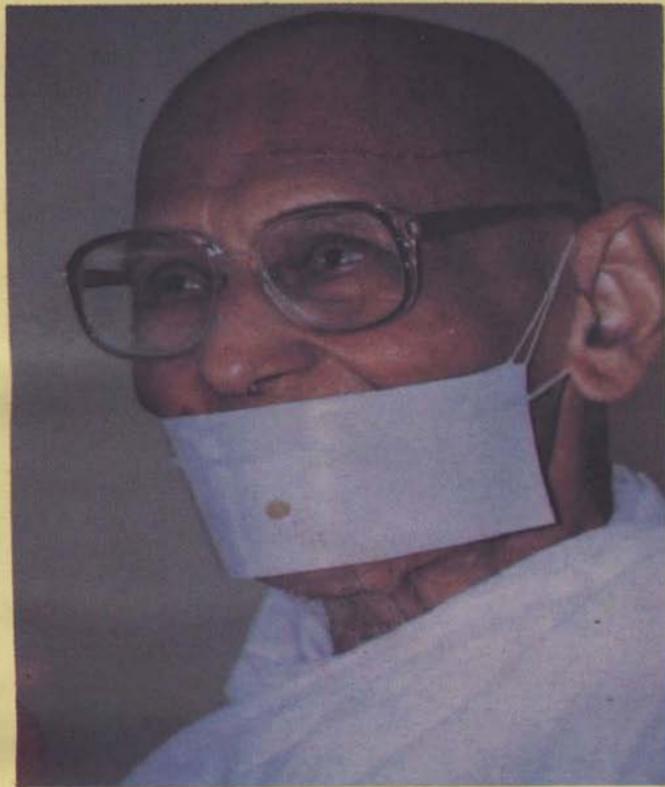
आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी

जन्म : संवत् १९७७, आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी, टमकोर
दीक्षा : संवत् १९८७, माघ शुक्ला दशमी, सरदारशहर
निकाय प्रमुख : सं. २०२३, आषाढ़ कृष्णा दशमी, सरदारशहर
युवाचार्य : सं. २०३५, माघ शुक्ला सप्तमी, राजलदेसर
आचार्य पद : सं. २०५०, माघ शुक्ला सप्तमी, सुजानगढ़

समर्पणम्

कष्टापाते प्रणिहितधियो नो जहत्यात्मनिष्ठां,
येषां निष्ठा भवति न चला वाति वामेऽपि वाते।
ते सर्वेऽपि प्रकृतिगुरवः पुष्पमालामिवार्घ्यां,
स्वीकृत्येमां मम लघुकृतिं कुर्वतां मां कृतार्थम्॥

समर्पण

जो स्थितप्रज्ञ कष्ट आने पर भी आत्म-निष्ठा नहीं छोड़ते, प्रतिकूल वातावरण से भी जिनका धीरज नहीं डोलता और जो स्वभाव से ही महान् हैं, वे मेरी इस छोटी सी कृति का अर्घ्य पुष्पमाला के रूप में स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करें।

(पूर्व संस्करण से)

विषयानुक्रमणिका

१. प्रस्तावना (पूर्व संस्करण से) I - V

२. आमुख (पूर्व संस्करण से) VI - IX

३. प्ररोचना - डा. हरिशंकर पाण्डेय 1-44

(१) क्रान्तकविः महाप्रज्ञः 1-6

(२) आचार्यश्री महाप्रज्ञस्य संस्कृत साहित्यावदानम्- 7-11

(३) अश्रुवीणायाः समीक्षणम् 12-23

(४) अश्रुवीणा का गीति काव्यत्व 24-38

(५) अश्रुवीणा में श्रद्धा का स्वरूप 39-43

(६) कृतज्ञता ज्ञापन- 44

४. मूल (श्लोक, अन्वय, अनुवाद एवं व्याख्या) 46-170

परिशिष्ट प्रथम - श्लोकानुक्रमणिका 171-174

परिशिष्ट द्वितीय - अश्रुवीणा की सूक्तियां 175-177

देव सुन्दरी हिन्दी व्याख्या का एक एक
पद महाकवि महाप्रज्ञ को सादर समर्पित

–हरिशंकर

प्रस्तावना

(पूर्व संस्करण से)

उपनतं महदिदं मे सौभाग्यम्, अपरिमेया चानन्दलहरी। मदीयं स्वान्ततटाकमाप्लाव्य पारिप्लवीकरोति यदाचार्यवर्य श्री तुलसीगणिपादाना-मन्तेवासिभिः कृपास्पदीभूतैर्मुनिश्रीनथमलपादैर्विरचितामश्रुवीणानामिकां काव्यकलिकामामूलचूलं स्वयं कवयितुर्मुखकमलाच्छ्रोतुमवसरमहमलभे। मन्दाक्रान्तया विरचितमिदं शतश्लोकमयं खण्डकाव्यं प्राचीनैः सुगृहीतनामधेयैर्विश्वविश्रुतकीर्तिभिर्भर्तृहरिप्रभृतिभिः रचितानी शतककाव्यानि प्रतिस्पर्द्धितुमलं भवति। महाकविकालिदासोपज्ञं मदाक्रान्ताच्छन्द इति प्रत्नतत्त्वकल्पनारसिकाः समाचक्षते। एतेनैव वृत्तेन तेनैव कविकुलमूर्धन्येन विरचितं मेघदूतं नाम खण्डकाव्यमद्यापि जगत्यप्रतिहतप्रचारं वरिवर्ति। एतस्यैव काव्यस्यैकैकं पदं गृहीत्वा नेमिदूतं नाम धर्मकाव्यं विरचितमार्हत-सिद्धान्तप्रचिख्यापयिषुणा जैनकविना श्रीमता श्रीविक्रमेण। अधुना मुनिवरेण श्रीनथमलमहाभागेन विरचितमिदं काव्यं जैनसाहित्ये प्रतिविशिष्टं पदमधिकरिष्यतीति न ममातिवादः। शब्दसम्पदाऽर्थगाम्भीर्येणाऽहमहमिकया समापतद्भिः शब्दार्थालङ्कारैर्विभूषितं भक्तिरसोपबृंहितमुदात्तं कथावस्तु समालम्ब्य प्रवृत्तमिदं खण्डकाव्यं संहृदयानां काव्यामोदिनां तत्त्वजिज्ञासूनां धर्मरहस्यबुभुत्सूनां च सममेव पूजास्पदं भविष्यतीति मम निर्विचिकित्सा मनीषा। अस्मिन् विकराले काले विद्वांसोऽप्यर्थकामचिन्तया व्यामुह्यमाना नीरन्ध्रं शास्त्रचिन्तां कर्तुं यावदपेक्षितं मनःस्थैर्यं नासादयन्ति। अतः खल्वेतादृशकाव्यनिबन्धने न समर्था भवन्ति। प्रस्तुतस्य काव्यस्य रचयिता खलु रागद्वेषपराङ्मुख ऐहिकसुखनिरभिलाष सन्ततं विद्यानुशीलनेन तपश्चरणेन च लब्धसत्त्वोत्कर्ष एकाग्रेणैव मनसेदं काव्यं व्यरचयत्। अतः खल्वस्मिन् काव्ये सर्वेषां गुणानां सामानाधिकरण्यं सुलभं समपादि।

प्रस्तुतस्य खलु काव्यस्याधिकृतं कथावस्तु जैनागमेभ्य: कवयित्रा समग्राहि। तस्य खलु वर्णनं स्वयं कविनैव पृथगुपन्यस्तम्। तत एव सर्वं समाकलनीयम्। अतस्तत्र न व्यापार्यते लेखनी। केवलं समासेनेदं प्रस्तूयते मयका। महतां खलु समुदाचारो न लौकिकेन मानदण्डेन विचारणीयो भवति। तत्र पर्यनुयोगस्य नियोगस्य वा सर्वथाऽनवसरः। अत: खलु कथमन्तिमतीर्थङ्कराणां श्रीमहावीरस्वामिनामीदृशोऽभिग्रहः समजनीति न पृष्टव्यम्। फलं त्वस्माभिरत्र समीक्ष्यते—राजपुत्री चन्दनबाला बन्दीग्राहं गृहीतात्यन्तिकीं दुर्दशां समासादिता समुद्धरणीयासीत्। सत्यपि दैवस्य प्रातिकूल्ये दु:खदुर्दिनेन समाच्छन्नेऽन्तरिन्द्रिये श्रद्धाबीजमच्छिन्नमूलं व्यराजत तस्या:। अत: खलु महावीरस्वामिनां प्रसादस्तया समप्रापि। अभिग्रहस्य यान्यपेक्षितानि लक्षणानि, तानि सर्वाणि तस्यामुपलब्धानि केवलमश्रुपूर्णं विलोचनं विहाय। भिक्षार्थं तस्या: समीपमुपनते महावीरस्वामिनि सा खलु सहजया श्रद्धया महापुरुषभक्त्या चावर्जितहृदया हर्षस्य काष्ठामन्वभवत्। अश्रूणि विलीनानि। अत: खलु प्रत्यावृत्ते पुरुषोत्तमे नितरां शोकेन परिदूयमानचित्ताऽश्रुणां प्रवाहं स्वत प्रसरद्रूपमवरोद्धुं नालमभूत्। अश्रुप्रवाहमेव दूतं कृत्वा परचित्तज्ञानिनं महावीरस्वामिनं प्रति सन्देशं प्रेषितवती। तस्या: खलु सहजं प्रणयं स्वाभाविकीं श्रद्धामतिशयितां भक्तिं चावगम्य महावीरस्वामिना पुनस्तत्सकाशं प्रत्यावृत्तेन तस्या हस्तान्माषा गृहीता:। साऽपि कृतार्था समजनि। सर्वा सम्पत्तत्क्षणमेव तया लब्धा। सर्वा: खलु विपदो निमेषमात्रेणैवास्तमुपागता। महापुरुषस्य प्रसादलाभेन किंवा दुरधिगमं भवेत्। ऐहिकं पारत्रिकञ्च हितं कल्याणं सुखं क्षेमं सर्वमेकपदे समधिगतं दुर्गतया राजकुमार्या। एतदेव कथावस्त्वस्य खण्डकाव्यस्य।

ये खल्वत्राधीतिनो भविष्यन्ति, तेषामप्यायति: कुशला क्षेमा कल्याणी च भविष्यतीति क: संशयस्यावसर:।

अधिकोक्त्या केवलं स्वकीयमसामर्थ्यमेव समुन्मिषितं भविष्यति। गृहिणो वयं केवलं संस्कृतशास्त्राध्ययनाध्यापने चाधिकृता इति महतामनुग्रहभार: समापतितोऽस्मच्छिरसि। स्वयमनधिकारितामवगच्छद्भिरपि 'आज्ञा गुरुणां ह्यविचारणीया' इति न्यायमनुस्मरद्भिर्यत् किञ्चिदत्रासंलग्नकमलेखि, तत् क्षमाधनैर्विद्वद्भिरेतत्काव्यपाठकैरनुग्रहबुद्ध्या यावदुपादेयं तावदुपादातव्यम्।

एतस्य काव्यस्य सम्यग् गुणकीर्तनासमर्था वयम्। यदि कस्यचिदत्र चित्तं श्रद्धया समावर्जितं भवेत्तदात्मानं कृतार्थं मंस्यामह इत्यलं प्रपञ्चेनेति निवेदयति विदुषामाश्रव:—

कलिकाता

दिनांक 30-6-59

श्री सातकड़िमुखोपाध्यायशर्मा

निदेशक नवनालन्दामहाविहारस्य, नालन्दा

भूतपूर्वाध्यक्ष कलिकाता विश्वविद्यालय संस्कृतविभागस्य।

प्रस्तावना

(पूर्व संस्करण से)

आचार्यवर्य्य श्री तुलसीगणी के कृपापात्र अन्तेवासी मुनि श्री नथमलजी द्वारा विरचित ''अश्रु वीणा'' नामक काव्य स्वयं कवि के मुखारविन्द से सुनने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ, इसे मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ तथा मेरे अन्त:करण को इससे अपरिमित आनन्द मिला। मन्दाक्रान्ता छन्द में रचा गया यह सौ श्लोकों का खण्ड काव्य है, जो प्राचीन ख्यातनामा विश्व-विश्रुत-कीर्ति भर्तृहरि आदि द्वारा रचित शतक काव्यों के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने में सक्षम है। मन्दाक्रान्ता महाकवि कालिदास का अभीप्सित छन्द है, प्राचीन साहित्य के मर्मज्ञ यों कहते हैं। इसी छन्द में कविकुल शिरोमणि ने 'मेघदूत' नामक खण्ड काव्य की रचना की। आज भी संसार में उसका व्यापक प्रचार है। इसी काव्य का एक-एक चरण लेकर आर्हत् सिद्धान्त प्रख्यापित करने के आकांक्षी जैन कवि श्री विक्रम ने 'नेमिदूत' नामक धर्मकाव्य रचा। इस समय मुनिवर श्री नथमलजी द्वारा विरचित यह काव्य (अश्रुवीणा) जैन साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा, ऐसा कहने में मुझे अतिरंजन नहीं लगता। प्रस्तुत काव्य में जहाँ एक ओर शब्दों का वैभव है, वहाँ दूसरी ओर अर्थ की गम्भीरता है। इसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार एक दूसरे से बढ़े-चढ़े हैं। भक्ति-रस से परिपूर्ण, उदात्त कथावस्तु का आलम्बन कर यह लिखा गया है। सहृदयों, काव्यानुरागियों, तत्त्वजिज्ञासुओं, धर्म का रहस्य पाने की आकांक्षा वालों—नि:सन्देह इन सबमें समान रूप से यह

आदर प्राप्त करेगा। आज का समय बड़ा भयावह है। विद्वान् भी अर्थ और काम की चिन्ता में व्यामूढ़ बने हैं। वे गहन शास्त्र-चिन्ता के लिए मन की जैसी स्थिरता अपेक्षित है, वैसी पा नहीं रहे हैं। इसीलिए वे इस तरह के काव्यों के सर्जन में समर्थ नहीं हो पाते। प्रस्तुत काव्य के रचयिता राग और द्वेष से पराङमुख हैं, उन्हें ऐहिक सुख की अभिलाषा नहीं है; वे निरन्तर विद्यानुशीलन और तपश्चरण में लीन रहते हैं। इसमें उन्होंने अन्तःकरण का उत्कर्ष साधा है। यह काव्य उनके एकाग्रचित्त की सृष्टि है। यही कारण है कि इस काव्य में समस्त गुण समान रूप में सुलभ हो सके हैं।

इस काव्य की कथावस्तु कवि ने जैन आगमों से ग्रहण की है। उन्होंने स्वयं इसका पृथक् विवरण दे दिया है, जिसे वहाँ से जाना जा सकता है। अतः इस विषय में मैं अधिक लेखनी चलाऊँ, यह अपेक्षित नहीं। केवल संक्षेप में मैं यों प्रस्तुत करना चाहूँगा :—

"महापुरुषों की आचार-विधि लौकिक मापदण्ड से नहीं मापी जाती। वहाँ पर्यनुयोग या नियोग का सर्वथा अवसर नहीं रहता। इसलिए अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने ऐसा अभिग्रह क्यों किया? यह पूछने की बात नहीं। इसका जो फल हुआ, वह हमारे सामने है ही—अत्यन्त दुर्दशा में पड़ी हुई तथा बन्दी की हुई चन्दनबाला का उद्धार जो करना था। यद्यपि उसका भाग्य प्रतिकूल था, उसका मन दुःखमय दुर्दिन के अंधियारे से ढका था, पर श्रद्धा का बीज उसके हृदय में दृढ़ता से जमा था। इसलिए उसने भगवान् महावीर का अनुग्रह प्राप्त किया। अभिग्रह के जो-जो लक्षण अपेक्षित थे, वे सब उसमें उपलब्ध थे, केवल आँखों में आँसू नहीं थे। भगवान् महावीर के भिक्षार्थ उसने समीप आने पर स्वाभाविक श्रद्धा और महापुरुष के प्रति भक्ति से उसका हृदय खिल उठा, वह हर्ष-विभोर हो चली, आँसू सूख गए। तब पुरुषोत्तम महावीर वहाँ से लौट चले। उसका चित्त अत्यधिक शोक से विगलित हो गया। स्वयं आँसुओं का प्रवाह फूट पड़ा, जिसे रोकने में उसने अपने आपको असमर्थ पाया। इस अश्रु-प्रवाह को अपना दूत बनाकर चन्दनबाला ने परचित्त-ज्ञानी भगवान् महावीर को अपना सन्देश भेजा। भगवान् लौटे; उसका सहज विनय, स्वाभाविक श्रद्धा तथा अतिशय भक्ति जान उन्होंने उसके हाथ से उबले हुए उड़द ग्रहण किए। चन्दनबाला ने

अपने को कृतकृत्य माना। उसने उसी क्षण मानों सब सम्पदाएँ हस्तगत कर लीं। पल भर में सब विपत्तियाँ निरस्त हो गईं। महापुरुष का अनुग्रह मिलने पर क्या दुष्प्राप्य रहता है? दुःख में पड़ी राजकुमारी ने ऐहिक, पारलौकिक हित, कल्याण, सुख, क्षेम—सब एक ही साथ पा लिया। इस खण्ड काव्य की कथावस्तु यह है। जो इसका अध्ययन करेंगे, निःसन्देह उनका भविष्य सुखमय, उज्ज्वल और श्रेयसपूर्ण बनेगा।

इस सम्बन्ध में अधिक कहने की अपेक्षा नहीं, ऐसा करने से अपना असामर्थ्य ही प्रगट होगा। संस्कृत विद्या के अध्ययन-अध्यापन के अधिकारी होने के नाते हम जैसे लौकिक पुरुषों के सिर पर गुरुजनों का अनुग्रह-भार आ पड़ा। स्वयं अपनी अनधिकारिता को जानते हुए भी "गुरुजनों की आज्ञा बिना ननु-नच के पालनी चाहिए" इस नीति-वाक्य को स्मरण कर जो कुछ यहाँ हमने बिखरे रूप में लिखा, उसमें जितना ग्राह्य हो, क्षमाशील विद्वान् और इस काव्य के पाठक ग्रहण करें। इस काव्य के गुणों को सम्यक्तया प्रगट करने में हमारी क्षमता नहीं है। अधिक विस्तार में न जा हमारा इतना ही निवेदन है कि इसे पढ़कर किसी का चित्त श्रद्धा से निर्मल बना तो हम अपने आपको कृतार्थ मानेंगे।

कलकत्ता
दिनांक : 30-6-59

श्री सातकड़ि मुखोपाध्याय शर्मा
डायरेक्टर, नव-नालन्दा महाविहार, नालन्दा (बिहार)
(भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय)

आमुखम्

(पूर्व संस्करण से)

एकदा कौशाम्बी-नरपतिना महाराजशतानीकेन चम्पायामाक्रमणमकारि। चम्पाधिपतिर्दधिवाहनो युद्धे मृत्युमवाप। शतानीकेनादिष्टं पुर्याध्वंसाय। सैनिका उच्छृंखलभावेन नागरिकान् संत्रासयामासुः। अपजह्रुः केचिद्धनं, केचिदाभूषणानि, केचिच्च वनिताजनम्। एको रथिको दधिवाहनस्य राज्ञीं धारिणीं, राजकुमारीं वसुमतीञ्चापजहार। धारिणी वैशालीगणप्रमुखस्य चेटकस्य पुत्री, भगवतो महावीरस्य मातुलपुत्री चाभूत्। तस्याः सतीत्वं सुविश्रुतम्। तया रथिकस्य भोगेच्छापूर्तेरवसरोऽपि न दत्तः। तस्य विकारपूर्णामाकृतिं चेष्टाञ्च निभाल्य सहसैव जिह्वामाकृष्य प्राणोत्सर्गं चकार। रथिकः स्तब्धतां जगाम। वसुमती चापि मातुरध्वानमनुसरेत्? इति संशयानः कम्पमानाधरो मृदुस्वरमनुरुरोध—भगिनि! आश्वस्तां भव, विलीना मे कामवासना, कौशाम्बीं गत्वा त्वां विक्रेतुमिच्छामि। नान्यास्ति कापि विकृतिरत्र। रथिकेन सा दासविपणौ विक्रयं नीता। ततः सा कयाचिद् वेश्यया क्रीता। असौ वेश्याकुलस्य निन्दितं कर्म कथमपि न स्वीचकार। तदा पुनरपि तयाऽसौ दासविपणौ विक्रीता। ततो धनावहनाम्ना श्रेष्ठिना क्रीता। तस्यालये दास्याः कर्म कुर्वती सा समयमतिवाहयामास। तेन तस्या नाम चन्दनबालेति चक्रे। एकदा धनावहस्य पत्न्या इति सन्देहोऽभूत्—मम पतिरिमां पत्नीरूपेण स्वीकरिष्यति। धनावहः प्रयोजनवशात् क्वापि बहिः प्रदेशे गतः। तत्पत्नी चावसरं विलोक्य चन्दनबालायाः शिरोमुण्डनमकार्षीत्। करौ चरणौ च शृंखलानिगडितौ कृत्वा एकस्मिन् विजनेऽपवरके स्थापयित्वा च तामन्यत्र जगाम।

इतो भगवान् महावीरः कौशाम्ब्या गृहं-गृहं पर्यटन्नपि भिक्षां नादत्ते। पञ्चमासाः पञ्चविंशतिदिनोत्तरा व्यतीताः। भगवान् षड्विंशतितमे दिवसे धनावहस्य

गृहे प्राविशत्। भगवान् ददर्श—अभिग्रहस्य पूर्तिरत्र भविष्यति। भगवतोऽभिग्रह आसीत् :—

"क्रीता कन्या नृपतितनया मुण्डिता चिह्निताऽपि,
पाशैर्बद्धा करचरणयोस्त्र्याहिकक्षुत्क्लमा च।
संभिन्दाना व्यथितहृदया देहलीं नाम पद्भ्या-
मध्याह्नोर्ध्वं प्रतनु रुदती सूर्पकोणस्थमाषान्॥
दद्याद् भोक्ष्ये ध्रुवमितरथा नाहरिष्यामि किञ्चित्,
षण्मासान्तं सुविहिततया नैव पास्यामि नीरम्।
श्रुत्वाप्येतत् सततनुमनसो वेपनं तद्व्रतं य—
च्छ्रद्धा-रेखा भवति खचिता नैकरूपा जनानाम्॥"

सद्य समागतेन धनावहेन द्वारमुद्घाट्य त्रिदिनतो बुभुक्षितायाश्चन्दनबालायाः पुरतः सूर्पकोणमाषान् संस्थाप्य लोहकारमानेतुं बहिर्गतम्। इतो भगवतः समागमनमजनि। चन्दनबाला भगवन्तं दृष्ट्वा हर्षोत्फुल्ला बभूव। अभिग्रहस्य पूर्तेः सर्वे प्रकारास्तत्रोपलब्धा अन्यत्राश्रुभ्यः। भगवान् बवले। अश्रुधारा प्रस्फुटिता। भगवान् पुनरायातो भिक्षाञ्च जग्राह। इयमेव चन्दनबाला अभूद् भगवतः साध्वीसंघस्य अधिनेत्री, षट्त्रिंशत् सहस्र साध्वीनां प्रमुखा।

अस्य काव्यस्य हिन्दीभाषायामनुवादमकार्षीन् मुनिः श्री मिट्ठालालः। अनुवादस्य कार्यं कयाविद् दृष्टया मूलरचनातोऽपि भवति दुष्करम्। दुश्करत्वेऽपि सफलत्वमत्र लब्धमिति प्रतीयते।

ज्येष्ठ शुक्ला ११, सं. २०१६ — मुनिः नथमलः
महासभाभवनम्, कलिकाता। — (आचार्य महाप्रज्ञ)

आमुख

(पूर्व संस्करण से - हिन्दी अनुवाद)

एक बार कोशाम्बी के राजा शतानीक ने चम्पा पर आक्रमण किया। चम्पा के राजा दधिवाहन की युद्ध में मृत्यु हुई। शतानीक ने सैनिको को नगर लूटने

का आदेश दिया। सैनिकों ने जनता को लूटना आरम्भ किया। कुछेक ने धन लूटा, कुछेक ने जेवर लूटे और कुछेक ने स्त्रियों को हस्तगत किया। एक रथिक ने दधिवाहन की रानी धारिणी और राजकुमारी वसुमती का अपहरण किया। धारिणी वैशाली गणराज्य के प्रमुख चेटक की पुत्री और भगवान् महावीर के मामा की बेटी बहन थी। उसका सतीत्व विश्रुत था। रथिक उससे अपनी भोग-लालसा की पूर्ति करना चाहता था, किन्तु उसने उसको ऐसा अवसर नहीं दिया। उसने रथिक की विकारपूर्ण आकृति और चेष्टाएं देखकर सहसा अपने हाथ से अपनी जीभ खींच ली और प्राणों का बलिदान कर दिया। इस घटना से रथिक स्तब्ध रह गया। वह डरा कि कहीं वसुमती भी अपनी माता के मार्ग का अनुसरण न कर ले। उसके होठ काँपने लगे। उसने वसुमती को कोमल स्वर से आश्वासन दिया—बहन! डर मत, अब मेरी काम-वासना शान्त हो गई है। मैं तुझे कोशाम्बी जाकर बेचना चाहता हूँ। मेरे हृदय में कोई विकृति नहीं है। रथिक ने उसे बाजार में बेचा। एक वेश्या ने उसे खरीदा। वसुमती ने किसी भी तरह वेश्या का निन्दनीय कृत्य स्वीकार नहीं किया। वेश्या ने फिर बाजार में बेचा। धनावह नामक सेठ ने उसे खरीद लिया। वह उसके घर में दासी का काम कर समय-यापन करने लगी। सेठ ने उसका नाम चन्दना रखा। एक बार धनावह की पत्नी को सन्देह हुआ कि मेरा पति कहीं इसे अपनी पत्नी न बना ले। किसी काम के लिए सेठ दूसरे गाँव गया। सेठानी ने अवसर देखकर चन्दनबाला का शिर मुण्डन किया। उसके हाथ-पैर में जंजीर डाली और उसे कोठे में डाल वह दूसरी जगह चली गई।

उधर भगवान् महावीर कोशाम्बी के घर-घर में जाकर भी भिक्षा नहीं ले रहे थे। पाँच महीने और पच्चीस दिन बीते। छब्बीसवें दिन भगवान् ने धनावह के घर में प्रवेश किया। भगवान् ने देखा—यहाँ मेरा अभिग्रह पूर्ण होगा। भगवान् का अभिग्रह था :—

"मैं भिक्षा तभी लूँगा यदि दान देने वाली 1—राजा की पुत्री, 2—अविवाहित और 3—बाजार से खरीदी हुई हो, 4—जिसका शिर मुण्डित हो और 5—उसमें दाग लगे हों, 6-7—जिसके हाथ-पैर जंजीरों से जकड़े हों, 8—जिस जिसका एक पांव घर की देहली के अन्दर हो और दूसरा बाहर, 10--तीसरे प्रहर का

समय हो, 11—आँखों में आँसुओं की धार बहती हों, 12—छाज के कोने में, 13—उबले हुए उड़द हों। अन्यथा छह महीनों तक मैं तपस्या करता रहूँगा, न भोजन करूँगा और न पानी ही पीऊँगा। यह वह घोर व्रत था, जिसे सुनकर साधारण व्यक्तियों का मन और शरीर काँपने लगता है। क्योंकि लोगों में श्रद्धा एक जैसी नहीं होती, विविध प्रकार की होती है।''

सेठ उसी दिन बाहर से आया था। उसने द्वार खोलकर चन्दनबाला को देखा। वह तीन दिन से भूखी थी। सेठ ने उसके खाने के लिए उबले उड़द छाज के कोने में डाल उसके सामने रख दिए और स्वयं जंजीर तुड़वाने के लिए लुहार को बुलाने गया। इधर भगवान् उसके घर आये। भगवान् को देखकर चन्दनबाला हर्ष-विभोर हो उठी। अभिग्रह-पूर्ति की सारी बातें मिल गईं। किन्तु आँसू नहीं थे। भगवान् मुड़े। चन्दनबाला के आँखों में आंसू छलक पड़े। भगवान् वापस आये और भिक्षा ग्रहण की। यही चन्दनबाला भगवान् महावीर के साध्वी-संघ की अधिनेत्री और छत्तीस हजार साध्वियों में प्रमुखा बनी।

ज्येष्ठ शुक्ला ११, सं. २०१६ — मुनि नथमल
महासभा-भवन, कलकत्ता।

प्ररोचना

क्रान्तकाव: महाप्रज्ञः

श्रुतविद्यातपवीर्यशीलनिरतस्य जैनश्वेताम्बरतेरापंथधर्मसंघस्य दशमाचार्यो निजसाधनानिरस्ताखिलकल्मषकषायानां भारतज्योतिवाक्पतिराष्ट्रीयैकता-दिविविधसम्मान सम्मानितानां पूज्यवराणां तुलसीगणीनां शिष्टशिष्य: अवितथसत्यान्वेषकप्रज्ञासमन्वितसार्थकाभिधानान्वितमहाप्राज्ञोमहाप्रज्ञः अहिंसासत्यसमताशिव-स्वरूपभूतमनुजधर्मध्वन्युद्घोषकः कमनीयकविकलाकलनार्हः विविधरत्नगभीरविद्याम्बुधिनिमज्जन समर्थः सरस्वतीवरदवत्सः भारत वसुन्धरान्तर्गतराजस्थानरत्नगर्भेत्याख्यजननीजनितः श्री गुरुतुलसीकुलभूषणः, भारतीयदार्शनिकवैज्ञानिक प्रेक्षासाहित्य-काशभास्वरोभास्करः समाधिरूपान्तर सामर्थ्यसमन्वितः जैनागमप्रकृष्टव्याख्याता गवेषकश्चास्ति।

विद्यासभ्यताविरहितग्राम्यजीवनोत्पन्नो 'नत्थु' इति बाल नामयुक्तो महाप्रज्ञः एकादश वर्षावस्थायामाचार्यकालुगणीसमीपे जैन भागवती दीक्षां गृहित्वा मुनिनथमलो भूत्वा तपस्वाध्यायाध्ययनैः नकेवलपूज्यगुरुदेवतुलसीगणानामपितु सम्पूर्णभारतवसुन्धरायां वरेण्यविद्वत्सभासु अतिप्रसिद्धिमवाप। सहस्रावधान-विद्याप्रयोगेन तत्कालीनसभ्यसामाजिकानां चेतांसि चमत्कृतवानिति।

मुनिनथमलो अतिजवादेव निजपुरुषार्थबलाद् तेरापंथधर्मसंघस्य युवाचार्यपदमलंकृतावान्। नवतिचतुराधि कोनविंशतितमे सुजानगढ़नगरस्य लक्षाधिकजनसंकुलसभायां गुरुतुलसीगणीनामाज्ञां शिरसि निधायाचार्यपदं स्वीचकार। धार्मिक संसारे एतादृशी व्यवस्था नगण्या एव यत् गुरुसमक्षमेव शिष्य: आचार्यपदमलंकरोत्।

इदानीं तु महाप्रज्ञः आचार्यदार्शनिकाशुकविरूपेण प्रसिद्धिमवाप्नोति। निबन्धेऽस्मिन् महाप्रज्ञस्य क्रान्तधर्मित्वं गुणसम्पन्नकवित्वं विचार्यम्।

कविः स्वयंभू भवति। 'कविर्मनीषीपरिभूः स्वयंभूः इतिश्रुतिः। स शब्दार्थसाहित्यमनुसृत्य अखण्डानन्दात्मिकां रतिमन्वेषयति, विविधविचित्र-चित्रणेण निजानुभूतिगतमंगलमात्रप्ररूपकार्थान् भाषयति च सचेतन सहृदय जीवानां संसारचक्र निमज्जितानां चतुर्गतिदग्धानाञ्च कल्याणार्थं मंगलार्थञ्च।

गणमान्यालोचकाचार्यहजारीप्रसादद्विवेदीमतानुसारेण स एव सम्यक् साहित्यकारः यः दुःखावसादकष्टेषु मानवधर्मनिर्वाहकस्य पशुगुणविरहितस्य मनुष्यस्य पुरुषस्य वा सर्जनं करोति तथा जीवन-मरण-हर्ष-शोक-निंदा-प्रशंसा लाभालाभादिषु समत्वंविधाय 'समो निंदा पसंसासु' 'समया धम्ममुदाहरे मुणी' इत्याद्यागमवचनमनुसृत्य निजकर्त्तव्यनिष्ठायां निष्ठितो भवति। महाप्रज्ञो एतादृशो साहित्यकारः कविश्चास्ति। समग्रमहाप्रज्ञ साहित्यान्वेषणेनैतादृशी संज्ञा संज्ञापिता भवति यत् कविरयं सत्यस्यावितथमार्गस्य प्रकाशको प्ररूपकश्च। अनन्तशक्तिरूपाव्याबाधसुखलक्षितानन्दप्राप्तिरेव महाप्रज्ञकवेर्लक्ष्यम्ः। संबोधीत्याख्यस्य महाकाव्यास्यवसाने कथयति महाकविः

निर्मला जायते दृष्टिर्मार्गः स्याद् दृष्टिमागतः।
मोहश्च विलयं गच्छेन्मुक्तिस्तस्य प्रजायते॥[2]

अथ कः कविः? कौति शब्दायते विमृशति रसभावानिति कविः।[3] लोकोत्तरवस्तुवर्णन समर्थः कविः। कविः प्रजापतिः काव्यसंसारैव तस्य सृष्टिः

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः
यथास्मै रोचते विश्वं तथा विपरिवर्तते॥[4]

कविसृष्टिः नियतकृतनियमरहिता केवलाह्लादमयी च। कथितं च मम्मटाचार्येण –

नियतिकृत नियमरहितामाह्लादैक मयीमनन्यपरतंत्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कर्वेर्जयति॥[5]

लोकशास्त्रावगाहनात् सहजाप्रतिभावशाच्च प्राप्तनुभूतिं रसभाव समुज्जव-लमनोरमशब्दविन्यासैः अभिव्यनक्ति स कविः। नवनवोन्मेषशालिनीप्रतिभाविशिष्टो महाप्रज्ञः श्रेष्ठकविरस्ति। कविगुणसमीक्षादृष्टया स महाकवि-कविराज-

सारस्वतोत्पादक–प्रायोजनिक–कविगुणयुक्तो विद्यते।

1. **महाकवि: —** य: कवि: **श्रेष्ठप्रबन्धात्मककाव्यरचनायां** निपुणो वा कुशलो वा स महाकविरित्यभिधीयते। **राजशेखरेनोक्तम्—** योऽन्यतर–प्रबन्धप्रवीण: स महाकविरिति[6]। **आचार्यमहाप्रज्ञ: महाकविगुणसम्पन्नोऽस्ति** यत: स रुचिरकथासमाश्रितानेक **महाकाव्य खण्डकाव्यानां** विरचयिता। संसारदु:खदु:खिताया: चन्दनबालाया: विरहकथामनुसृत्य अश्रुवीणेत्याख्यागीति काव्यमरीरचत्। शतश्लोकात्मकेऽस्मिन् गीतिकाव्ये **चन्दनबालाया:** चारुचित्रणं कृतमस्ति। निराशाच्छन्नमोहोपगताया: **नायिकाया: सौन्दर्यमवलोक्यम्** :—

> वाणी वक्त्रान्न च **बहिरगाद्** योजितौ नापि पाणी,
> पाञ्चालीवाऽनुभवविकला न क्रियां काञ्चिदार्हत्।
> सर्वैरङ्गै: सपदि **युगपन्नीरवं** स्तब्धताऽऽसा,
> बाहोऽश्रूणामविरलमभूत् केवलं जीवनाङ्क:॥[7]

श्रेणिकस्यात्मजमेघकुमारस्य **कथामाश्रित्य** जैन जीवनदर्शनसमुद्घाटक संबोधीत्या[8]ख्य षोडशसर्गात्मिकं **महाकाव्यं** विधायि। आदिनाथ प्रथमतीर्थंकर भगवान्–ऋषभ **चरित्रमाश्रित्य ऋषभायण**मिति' महाकाव्यं हिन्दीभाषायां विरचितवान् कवि:।

2. **कविराजोमहाप्रज्ञ: —** विविधगुणालंकारालंकृतसाधुसूक्ति–समन्वितानेकभाषासु **काव्यविरचनासमर्थो कवि:** कविराजेति कथ्यते। कविराज गुणगुम्फितकवय: जगति **कतिपया भवन्ति** — 'यस्तु तत्रभाषा विशेषे तेषु–तेषु प्रबन्धेषु तस्मिन्तस्मिंश्च **रसे स्वतंत्र:** स कविराज:। ते जगत्यपि कतिपये।[9] महाप्रज्ञ: कविराज: **यत: स विविध** भाषासु संस्कृत–प्राकृतहिन्दी–**राजस्थानीषु काव्यविरचनसमर्थोऽस्ति:। महाकवेरस्य** कविता न सहचरीभूताऽपितु अनुचरी एव। स्वयं **कविराजो महाप्रज्ञ: कथयति** यत् 'कविता मम न सहचरी रूपा अपितु **अनुचरीसदृशी सा** ममोपरि समर्पिताऽस्ति। दार्शनिकतत्वचिन्तनेनोत्पन्नक्लान्तिकाले **कवितामाश्रयाम्यहम्**।[10]

3. **सारस्वतकविमहाप्रज्ञ: — कवेरूपकुर्वाणा** सहजाकारयित्रीप्रतिभा सम्पन्नो कवि: सारस्वतो इति। **जन्मान्तरीयसंस्कार** वशात् काव्यकरणेसमर्थ:

नैसर्गिकशक्तिसम्पन्नश्च सारस्वतो भवति। निर्भयराजोपाध्याय: कथयति – 'जन्मान्तरसंस्कारप्रवृत्तसारस्वतीको बुद्धिमान् सारस्वत:।'[11] सारस्वतो स्वतन्त्रश्च।[12] महाप्रज्ञो सारस्वतो कविरस्ति। स च शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कार तन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयित्री प्रतिभाविशिष्ट:। अश्रुवीणायां श्रद्धासौन्दर्यनिरूपणावसरे विरहव्यथिताया: चन्दनबालाया: प्रसंगे च कवेर्प्रतिभाया: प्रतिभासनं भवति। श्रद्धाया: सौन्दर्यम् –

तत्रानन्द: स्फुरति सुमहान् यत्रवार्णी श्रिताऽसि,
दु:खं तत्रोच्छलति विपुलं यत्र मौनावलम्बा।
किंवाऽऽनन्द: किमसुखमिदं भाषसे सम्प्रयोग,
त्वामाक्षिप्य स्वमतिजटिलास्तार्किका अत्रमूढा:।[13]

रत्नपालचरित्तकाव्ये महाकविर्कालिदासवत् प्रकृतेर्मानवीकरणकरणे कविरयं चतुरोऽस्ति। कुमाररत्नपालेन विगर्हिते सति राज्ञी मर्मभेदिनी-वाणीमाह :—

परमहो! मनुजा अविवेकिनो,
नहि भवन्ति रहस्यविद: क्वचिद्।
अपचिकीर्षव एव तमो मम,
गृहमणेर्निचयान्मनसो न च॥[14]

वृक्षा: राजा रत्नपालेन एवं निवेदयन्ति :—

छिन्दन्ति भिन्दन्ति जनास्तथाति
पूत्कुर्महे नो तव सन्निधाने।
क्षमातनूजा इति संप्रधार्य
क्षमां वहामो न रुषं सृजाम:॥[15]

नृपतेर्महत्त्वं विवृण्वन् कथयति पृथ्वी —

त्वं रत्नपालोऽसि वसुन्धराहं,
स्यां पालनीयाङ्गज पालकत्वात्।
मन्ये धरित्रीत्यनुरुद्धय चक्रे,
तं रत्नपालं महिपालमत्र॥[16]

उत्पादको–कविर्महाप्रज्ञः — यः कविः कस्यापि भावग्रहणं विना स्वतंत्ररूपेण काव्यमुद्भावयति सोत्पादको कविरिति। महाप्रज्ञो एतादृशगुणसम्पन्नोऽस्ति।

प्रायोजनिकोमहाप्रज्ञः — काव्यकलोपासनादृष्टया असूर्यपश्यनिषण्णदत्तावसर - प्रायोजनिकाश्च चत्वारो कवयः। विशिष्टलक्ष्य सिद्धयर्थमथवा निजप्रयोजनप्राप्त्यर्थं यः कविः काव्यरिवरचनां करोति स प्रायोजनिकः। महाकविः महाप्रज्ञः भव्यजीवेभ्यरथवा साधनासमरपराजितक्लीवेभ्यः नैकमेघकुमारसदृशजनेभ्यः धाष्टर्यजननार्थं साधनामार्गेप्रतिष्ठापनार्थं च अथवा निर्वाणपथं किंवा आत्मप्रदेशगमनाध्वानं प्रकाशनाय जैनगीतेति लोकेप्रसिद्ध - संबोधीत्याख्यमहाकाव्यं विधायि। 'संबुज्झह किं न बुज्झह' संबोही खलु पेच्च दुल्लहेति ध्वनि सम्पूर्णमहाकाव्ये ध्वनति। संबोधिपथैव मतिर्करणीयाऽस्माभिरिति। प्रतिबोधयति भगवान् मेघकुमारं —

युक्तं नैतत्तवायुष्मन्! तत्त्वं वेत्सि हिताहितम्।
पूर्व-जन्म-स्थितिं स्मृत्वा, निश्चलं कुरु मानसम्॥[17]

प्रभुमहावीरं प्रति निजश्रद्धासमर्पणार्थमथवा निज मुक्तिपथ प्रबोधनार्थमेव अश्रुवीणां चकार कविः। काव्ये आत्माभिव्यंजनायाः प्राधान्यमस्ति अतः कवि चन्दनबालायाः कथानक माश्रित्य निजस्वरूपमेवोद्घाटयति।

आशुकविः महाप्रज्ञः — तत्क्षणप्रदत्तविषयेषु त्वरितवेगेन कविकर्म करण समर्थो - आशुकविरिति। महाकविः महाप्रज्ञः आशुकवित्व गुण सम्पन्नोऽस्ति। विभिन्नावसरेषु विद्वत्सभासु च प्रदत्तविषयेषु स महाकविः रमणीय-श्रुतिमधुर शब्दसमन्वितं काव्यंचकार। पुणानगरस्य एस.पी. महाविद्यालयस्य संस्कृतविभागाध्यक्षेण प्रदत्तविषये 'विद्वत्सभा' इत्यस्योपरि महाकविः महाप्रज्ञः आशुकवित्वं कृतवान् :—

अध्यक्ष उवाच — मिलिताः पण्डिताः सर्वे काव्यस्य श्रवणेच्छया[18]
अतो हि काव्यमाश्रित्य वर्ण्यतां विदुषां सभा॥

विषयपूर्ति — स्वातन्त्र्यं यज्जन्मसिद्धोऽधिकारः येषां नादः सर्वथा श्रूयमाणः
तेषां नाम्ना मंदिरं विद्यमानं विद्वद्वर्या अत्र सर्वे प्रभूताः॥

विलोक्य सर्वान् **विदुषः प्रमोदे विराजमाना** गुरवोममातः।
इतो विराजन्ति **मुमुक्षवोऽमी साहित्यपाण्डित्यकलाप्र**पूर्णाः।
ये ये विचारा **मनसोद्भवन्ति ज्ञातास्तथा** ज्ञाततमा लसन्ति।
आविष्करोमि **प्रमनाश्च ताँस्तान् ज्ञेयः** ससीमः समयोममास्ति॥
नाहं क्वचित् काश्चन **वेद्मि विज्ञान्** न तेऽपि जानन्तितमां च मां च।
पूर्वोऽयमेवास्ति **समागमोऽत्र परं प्रमोदोस्ति** महान् समन्तात्॥
एवं अन्यापिविविधावसरेषु **महाप्रज्ञस्य** आशुकवित्वस्य निदर्शनं प्राप्तमस्ति।

अतस्मात् प्रतीयते यदयं **महाप्रज्ञः न केवलतेरापंथ** धर्मसंघस्याचार्यः दार्शनिको वा अपितु कमनीयकलाकलितक्रान्तकर्माकविरप्यस्ति। धन्येयं धरित्री धन्या सा माता या एतादृशं गुणोपेतं **पुत्रमजीजनत्**। स गुरु महत्पूज्यः वदान्यः यः एतादृशं शिष्यं शिक्षितवानिति।

पादटिप्पण

1. ईशावास्योपनिषद् 8
2. संबोधि 16.49
3. संस्कृतसाहित्यशास्त्रकोशः, पृ. 362
4. ध्वन्यालोक, पृ. 422
5. काव्यप्रकाश 1.1
6. काव्यमीमांसा, अ. 5, पृ. 50
7. अश्रुवीणा श्लोक संख्या – 21
8. जैनविश्वभारती, तृतीय संस्करण 1981, पुनः प्रकाशनाधीन
9. काव्यमीमांसा, अ. 5, पृ. 50
10. महाप्रज्ञसाहित्य : एक सर्वेक्षण, पृ. 89
11. काव्यमीमांसा, अ. 4, पृ. 30
12. तत्रैव, अ.– 4, पृ. 30
13. अश्रुवीणा – 3
14. रत्नपालचरित (अप्रकाशित कृति) 3.9
15. तत्रैव 1.33
16. तत्रैव 3.28
17. संबोधि 1.38
18. अतुलातुला, पृ 83–84

आचार्यश्रीमहाप्रज्ञस्य संस्कृतसाहित्यावदानम्

निखिलेऽस्मिन् विश्वे सन्ति बहवो जीवाः जीवन्तीति प्राणन्तीति श्वसनोच्छ्‌वसनं कुर्वन्तीति लक्षणधारकाः, परन्तु ते एव धन्याः वदान्याः पूज्यार्हाः भवन्ति ये पौद्गलिकमूर्त्तशरीरमवाप्य निजात्मप्रदेशभ्रमणसमर्थाः भवन्ति अन्येषां भावितात्मभव्यजीवानां जीवनपथप्रदर्शयन्ति च। एतादृशपरम्परायामेव अणुव्रतानुशास्तृश्रीतुलसीमहोदयानां पदमङ्कजासक्तः सरस्वतीवरदवत्सलः, 'चारित्तं खलु धम्मो' इति आचार्यलक्षणसम्पन्नः 'समयाए समणो होई ति' समत्वधर्मनिरतः विश्वप्रसिद्धदार्शनिकः महाव्रती प्रेक्षानुसंधायकश्चः श्री महाप्रज्ञः तेरापंथधर्मसंघस्य दशमपट्टधराचार्य-रूपाधिष्ठितोऽस्ति।

गीर्वाणवाणीदेववाणीतिविविधाभिधानवि भूषितां संस्कृतभाषामाश्रित्य सप्त ग्रन्थ रत्नानि आचार्य प्रवरेण महाप्रज्ञेन विरचितानि सन्ति। तेषामेव संक्षिप्तरीत्या वैशिष्ट्यविवेचनम धोविन्यस्तमस्ति :—

1. **संबोधि**[1]— षोडशाध्यायात्मकेऽस्मिन् ग्रन्थे जैनतत्त्वज्ञानजीवन-विज्ञानयोश्च व्यावहारिक सैद्धान्तिकोभयदृष्ट्या विशदविवेचनं सरल-सहजग्राह्य शैल्यां कविना कृतमस्ति। 'संबुज्झह किं न बुज्झह संबोही खलु पेच्च दुल्लहेति[2] भगवतः महावीरस्य परममंगलसाधकं वचनं मनसिसंधाय अनन्तानन्त संसारिकजीवेभ्यः कल्याणमार्गं सम्पादनाय नित्यानित्यवस्तुविचारेणोत्पन्न विषयविरागसमन्वितेभ्यः भव्यजीवेभ्यः संवित्पथप्रदर्शनाय च पाटलिपुत्राधिपतेः श्रेणिकस्यापत्यस्य मेघकुमारस्य कथामवत लम्ब्य महाकविः काव्यमेतच्चकार। रसगुणालंकारछंदादि काव्यतत्त्वसमन्वितायां लोकोत्तराह्लादजनक-सहजप्रवाहयुक्तायां संस्कृतं भाषायां दार्शनिक विषयाणां जिणागमसमर्थितानां द्रव्यतत्त्व-प्रमाणमोक्षसाधनादीनां च निरूपणं महाकविना कृतमस्ति।

संबोधिमहाकाव्यस्य मंगलवाक्येष्वेव यमकपरिकरालंकारालंकृतस्य भव्योदात्तगुणाविभूषितस्य भगवतः महावीरस्य सौन्दर्यमवलोकनीयमस्ति —

ऐं ऊं स्वर्भूर्भुवस्त्रय्या-स्त्राता तीर्थंकरो महान्।[3]
वर्धमानो वर्धमानो ज्ञानदर्शन सम्पदा॥
अहिंसामाचरन् धर्मं सहमानः परीषहान्।
वीर इत्याख्यया ख्यातः, परान् सत्त्वानपीडयन्॥
अहिंसा तीर्थमास्थाप्य, तारयन् जनमण्डलम्।
चरन् ग्रामानुग्रामं राजगृहमुपेयिवान्॥

दृष्टान्तालंकारेनोपेन्द्रवज्र छन्द समन्वितेन चास्मिनधोविन्यस्त श्लोके तृष्णायाः मोहायतनत्वं कथितमस्ति —

यथा च अण्डप्रभवा बलाका, अण्डं बलाका प्रभवं यथा च[4]।
एवं च मोहायतनं हिं तृष्णा, मोहश्चतृष्णायतनं वदन्ति॥

एवं शान्तरसोद्‌भावनेन माधुर्य प्रसादोदात्तगुणोपस्थापनेन यमकानुप्रासोत्प्रेक्षा परिकरादीनां साधुसंयोजनेन अनुष्टुपेन्द्रोपेन्द्र वज्रादिछन्दानां प्रयोगेन सूक्तिनां सौष्ठवेण च समन्वितमिदं महाकाव्यं भव्यानां रसिकानां सहृदयचेतन जीवानाञ्च चित्तचमत्कारं करोति करिष्यतीति नात्र संदेहलेशावसरः।

2. अश्रुवीणा[5] — दधिवाहननृपतितनयायाः चन्दनबालायाः भक्तिरसाप्लुतां कारुणिकीकथामवलम्ब्य शतश्लोकात्मकं अश्रुवीणेत्याख्यं गीत्यात्मकं खण्डकाव्यं महाकविना विरचितमस्ति। आत्मप्रकाशनात्माभिव्यंजन - रसनीयत्व-चारुत्व - कल्पना - भावना - संगीतादि गीतिकाव्य गुणैः समन्वितस्यास्यग्रन्थस्य सौन्दर्यमास्वाद्य रसलोलुपजनाः आनन्दमनुभवन्ति। ये सहृदयरसिकाः काव्यतत्त्वमर्मज्ञाः अश्रुवीणायाः प्रथमनिनादनं शृण्वन्ति ते मोदमनुभवन्ति। विश्वविख्यात संस्कृतभाषामर्मज्ञः नवनालन्दा संस्थानस्य निदेशकः डा. सतकोडीमुखर्जी महोदयः काव्यस्यास्य रसनीयत्वमास्वाद्य एवमगादीत् ....

"श्रद्धा-भावना-आंसू-भक्ति-निर्वेदादिविषयानां यादृशनिरुपणमत्रोपलभ्यते तादृशनान्यत्र।[6]" श्रद्धायाः चारुत्वं चव्यर्मस्तिः —

सत्संपर्का दधति न पदं कर्कशा यत्र तर्काः।
सर्वं द्वैधं व्रजति विलयं नाम विश्वासभूमौ॥
सर्वेस्वादाः प्रकृतिसुलभाः दुर्लभाश्चानुभूताः
श्रद्धास्वादो न खलु रसितो हारितं तेन जन्म[7]॥

वाष्पाः अप्रतिहतशक्ति अवितथगतिसम्पन्नाः विपत्कालस्यानन्य सहायाश्च। गायति महाकविर्महाप्रज्ञः —

चित्रा शक्तिः सकलविदिता हन्तयुष्मासु भाति,
रोद्धुं यान्नाक्षमत पृतना नापि कुन्ताग्रमुग्रम्।
खातं गर्ता गहनगहनं पर्वतश्चापगाऽपि
मग्नाः सद्यो वहति विरलं तेऽपि युष्मत्प्रवाहे॥[18]

3. मुकुलम्[9]**—** संस्कृताध्ययनोत्सुकेभ्यः छात्रेभ्यः सरलरीत्या भाषावबोधनाय महाप्रज्ञेन विरचितानां एकोनपञ्चाशत्निबन्धानां संग्रहोऽयं ग्रन्थः। मनोरमया भावव्यञ्जनया प्रसादगुणसमन्वितेन चाऽयं संस्कृतसाहित्या- नुरागीनां कृते महदुपकारकोऽस्ति।

4. अतुला-तुला[10]— पञ्चविभागात्मकमिदं मुक्तककाव्यं महाकवेर्म- हाप्रज्ञस्य कवित्वबीजभूतशक्ति सम्पन्नायाः सर्वविषयग्रहणसमर्थायाः प्रतिभायाः चूड़ंतनिदर्शनमस्ति। विविधेत्याख्ये प्रथमविभागे स्वतन्त्रता - स्वतन्त्रभारती-विनयपत्र-मेघाष्टक-समुद्राष्टक-दुर्जनचेष्टा - पितृप्रेमा - दिविषयानां सहजशैल्यां निरुपणंकृतमस्ति।द्वितीयविभागे आचार्यप्रवर महाप्रज्ञस्य आशुकवित्वस्योदाहरणं संग्रहितमस्ति। त्वरितप्रदत्तविषयाणामुपरि कविकृतश्लोकानां रसणीयत्वं चर्व्यम् पद्यगतशब्दानामनुरणनत्वमपि लोकोत्तर चमत्कार जनकञ्च। पूनानगरे वाग्वर्धिनीसभायां विद्वद्‌भिः प्रदत्ते -

भाषामृतेति प्रवदन्ति केचित्[11]
गीर्वाणवाणी गुणभूषिताऽपि।
मुनीन्द्र! तत्त्वं कथयस्व नूनं
कथं पुनर्वैभिवशालिनी स्यात्॥

विषयपूर्तिं कुर्वन् कविरेवमाह -

भाषा कदाचिन्न मृताऽमृता स्यात्,
भाषाज्ञ एवापि मृतोऽमृतः स्यात्,
भाषामुपादाय जनाश्चलन्ति[12]
तेषा गतिः स्याच्च समीक्षणीया॥

तृतीयविभागे समस्यापूर्त्यात्मकश्लोकाः सन्ति। चतुर्थपंचमविभागयोः सत्संगजैनशासनयोश्च निरूपणं विद्यते। जैनशासने त्याख्ये विभागे महावीर-आचार्य-सिद्ध-भिक्षु-कालू-तुलसीगणीनाञ्च स्तवनं भक्तकविणा महाप्रज्ञेन कृतमस्ति। स्तुतिकाव्य दृष्ट्या विभागोऽयं महत्त्वपूर्णोऽस्ति।

5. रत्नपालचरितम्[13] — चरित्रगुणशीलनिरूपक चरितकाव्यलक्षणलक्षिते पंचसर्गात्मकेऽस्मिन् खण्डकाव्ये रत्नपालरत्नवत्योश्च कथा जैनकथास्था पत्य सरणिमाश्रित्य आचार्य प्रवरेण निगदिता। काव्यकलायाः कोमलकल्पनायाः भावसौन्दर्यस्य च दृष्टया श्रेष्ठकाव्यग्रन्थेऽस्मिन् महाकवेर्महाप्रज्ञस्य जीवनदर्शनस्योपस्थापनं स्पष्टरूपेण परिलक्षितं भवति। महाकविरयं श्रमणाचार्यः तस्मात् ''समयाधम्ममुदाहरे मुणी' इति आगमिकी वाणीमवलम्ब्य समत्वं संसाधयन् 'चारितं खलु धम्मो ति' चारित्रमाचरन् समत्वस्य चारित्रस्य च प्रतिरूपतां प्राप्तवान्। रत्नपालचरितान्तर्गते वृक्षाणां वचनेन प्रवाचयति कविः यत् मनुष्यानां क्षमा परमो धर्मः —

छिन्दन्ति भिन्दन्ति जनास्तथापि
पूत्कूर्महे नो तव सन्निधाने।
क्षमातनूजा इति सम्प्रधार्य
क्षमां वहामो न रुषं सृजामः॥[14]

महर्षिगुण गुम्फितोऽयं महाकविः गुरुचरणेषु 'अखण्डात्मिकावृत्ति-सम्पन्नः। मधुकराणां चञ्चलात्मिकां वृतिमवधीरयन् एवं कथयति —

भ्रमर! रे निपुणोसि कुतोऽर्जिता
मतिरियं परमार्थपराङ्मुखा।
भ्रमसि पद्मरते दिवसे भृशं
कुमुद मा व्रजसि क्षणदा क्षणे॥[15]

6. **तुलसीमंजरी**[16]**—** हेमचन्द्रस्य प्राकृतशब्दानुशासनस्थानां सूत्राणां शब्दसाधुत्वसरण्यां प्रक्रियारूपोऽयं ग्रन्थः सप्तपरिशिष्ट समन्वितश्च। प्राकृतजिज्ञासुनां कृते महदुपकारकोऽयम्।

7. **'आलोकप्रज्ञा का'**[17] — इत्याख्यमेकं मुक्तककाव्यमस्ति यस्मिन् सत्य अहिंसा ब्रह्मचर्यादि व्रतानां कर्त्तव्याकर्त्तव्यानाञ्च सूत्ररूपेण निरूपणं महाकविना कृतमस्ति।

इत्थं उपर्युक्तनिरूपणेन प्रतीयते यदयं महाकविर्महाप्रज्ञः बहुविधरूपेण गीर्वाणवाण्याः सेवितवान् तत्संवर्द्धनं च कृतवानिति।

पाद-टिप्पण

1. आचार्य श्री महाप्रज्ञ कृत जैन विश्व भारती, संस्करण, 1994
2. सूत्रकृतांगसूत्र 1.2.1
3. संबोधि महाकाव्य 1.1-3
4. तत्रैव 2.8
5. आदर्शसाहित्य संघ से प्रकाशित
6. प्रथम संस्करण की प्रस्तावना
7. अश्रुवीणा श्लोक संख्या - 4
8. तत्रैव 24
9. आदर्शसाहित्य संघ संवत् 2017
10. आदर्श साहित्य संघ, 1976
11. अतुला - तुला, पृ. 89
12. तत्रैव, पृ. 89
13. महाप्रज्ञ विरचित, अप्रकाशित,
14. रत्नपाल चरित, 1.33
15. तत्रैव 5.40
16. तुलसीमञ्जरी, जैन विश्व भारती से प्रकाशित
17. आलोक प्रज्ञा का, जैन विश्व भारती से प्रकाशित

अश्रुवीणायाः समीक्षणम्

कारयित्री-सहजप्रतिभासम्पन्न-श्रुतज्ञानशीलचरित्रनिष्ठभारतीयविद्या-विशिष्टस्य श्वेताम्बरजैनपरम्परायां जैनोजनधर्मेति-विज्ञाप्यमानस्य तेरापंथधर्मसंघस्य दशमाचार्यस्य सारस्वत-प्रायोजनिककवेर्महाप्रज्ञस्य अश्रुवीणे[1]त्याख्यैकं गीतध्वनिसम्पन्नशतश्लोकात्मकं खण्डकाव्यमस्ति। यदा आचार्यो महाप्रज्ञः मुनिनथमलरूपेण प्रसिद्धासीत् तदैव कलिकातानगरे चम्पानगराधिराजदधिवाहनस्यात्माजायाः चन्दनबालायाः कारुणिकीकथामवलम्ब्य काव्यमेतच्चकार। प्रबन्धेऽस्मिन् भारतीयसमीक्षाशास्त्रमनुसृत्य अश्रुवीणायाः समीक्षणमवधेयः। भारतीयाचार्याः वस्तुनेतारसादीनामुपरि समीक्षादृष्टिं नयन्ति यतः दशरूपके इत्थं प्रवाचितमस्ति यत् वस्तुनेतारसस्तेषां भेदकः[2] इति। अर्थात् वस्तुतत्त्वपात्रचित्रणरसादीनामवलम्बनं कृत्वा काव्य. मालोच्यन्ते आचार्याः। रसशब्दोपलक्षणात् भावभाषाशैल्यादीनामपि संग्रहणं भवति। पाश्चात्य-समीक्षाशास्त्रेऽधोविन्यस्ततत्त्वानां निरूपणकृतमस्तिः- कथावस्तुः, चरित्रचित्रणम्, शैली विचाराभिनेयतागीतञ्च। अत्राधस्तन-तत्त्वानवलम्ब्य अश्रुवीणायाः समीक्षणकार्यस्य विनम्रप्रयासो क्रियतेः-

1. कथावस्तुविवेचनम्
2. संवादनिरूपणम्
3. पात्रचित्रणम्
4. रसविमर्शः
5. भाषाशैली
6. उद्देश्यश्च।

1. अश्रुवीणायाः कथावस्तुविवेचनम् – यदा प्रचेताकविरैतिहासिकी-कथां निजकमनीयकला-रमणीयकल्पना-मनोरमभावनासु परिवेष्ट्य पुनर्प्रस्तावनं करोति

सैव काव्यसमीक्षायां कथावस्तुरित्यभिधीयते। 'खण्डकाव्यं भवेत्-काव्यस्यैकदेशानुसारि चे'ति लक्षणलक्षितस्य खण्डकाव्यस्यानुरूपैव चिदाह्लादक रूपलावण्यसम्पन्नायाः चारुचर्चित चन्दनबालायाः मुक्तिकथानकं महाकविनाऽत्र विन्यस्तम्।

एकदा कौशाम्ब्याः क्रूरकर्मानृपतिशतानीकेन दधिवाहनस्यराज्यचम्पोपरि आक्रमणमकारि। तस्मिन्युद्धे दधिवाहनो पञ्चत्वंगतः शतानीकस्य क्रूरैकरथिकः दधिवाहनस्यराज्ञी धारिणीं राजकुमारीं वसमुतीं चापहार। कामुकरथिकस्य कामेच्छया संतप्ता वरेण्याधारिणी जिह्वामाकृष्य प्राणान्त्यज्य शीलमरक्षत्। वसुमतीऽपि निजमातुरनुसरणं कर्तुमिच्छतीति ज्ञात्वा रथिको भयाद्भीतो कुमारीं प्रतिनिवेदयत् यत् मा भैषी त्वं ममभगिनीरूपा अतएव ममकामेच्छा विगलिता केवलमापणे विक्रेतुमहमिच्छामि। रथिकेन सा दासविपणौ विक्रयं नीता। ततश्च कश्चित्वेश्यया कृता परन्तु वेश्याकर्म कथमपि न स्वीचकार ततः सा पुनरपि दासविपणौ विक्रीता श्रेष्ठिनाकृता। तेन श्रेष्ठिना एव 'वसुमती चन्दनवत् सुन्दरीति तस्या चन्दनबालेति अभिधानं कृतमस्ति। एकदा श्रेष्ठिवर-धन्नवाहस्य पत्नी ममपतिरिमां पत्नीरूपेण स्वीकरिष्यतीति संदेहसंकुलाभूत्वा चन्दनबालायाः शिरोमुण्डनंकारयित्वा करचरणेषु शृंखलनिगडौ दत्वा एकस्मिन्विजनेऽपवारके स्थापयत्।

तदानीमेव भगवान्महावीरो क्रीताकन्यानृपतितनयेति[4] विविधलक्षण-लक्षितकन्यया एव भिक्षां ग्रहिष्यामीति अभिग्रहं कृत्वा गृहं गृहं पर्यटन् चन्दनबालायाः समीपे आगतवान्। हर्षयुक्तायां चन्दनबालायां सर्वाभिग्रहाङ्काः विद्यमानाः परन्तु अश्रुविन्दवः नासनतस्मात् भगवान् परावर्तितः। तस्या अश्रुधारा प्रस्फुटिता। अश्रुधारामाध्यमेन सा बाला निजव्यथाकथां भगवताऽनिवेदयत्। अश्रुप्रवाहं दृष्ट्वा किंवा श्रद्धाभक्तिपूर्वकाह्वानेन भगवान् पुनरागत्य भिक्षामगृह्णदिति। भिक्षाग्रहितेसति श्रद्धाभक्तिवशात् चन्दनबालायाः सर्वं भव्यं जातम्।

कथानकेऽस्मिन् कल्पनाभावना-सहजाभिव्यक्ति -चित्रात्मकतादीनां प्रभूतनिदर्शनमस्ति। श्रद्धायाः सौन्दर्यमत्रावलोकनीयम्। जैनपरम्परानुसारेण कथानकस्य परमविश्रान्तिः निर्वाणरूपानन्दनिकेतने भवति। चंदनबाला दीक्षितासाध्वीभूत्वा भगवान्महावीरसंघस्य साध्वीप्रमुखाऽभूदिति।

संवादनिरूपणम्— ग्रन्थोऽयं गीतात्मकखंडकाव्योऽस्ति। अततस्मात् संवादस्य नगण्यत्वंविद्यते। परन्तु यत्किञ्चिदस्ति स वैशिष्ट्यविशिष्टो परमचमत्कार-जनकश्च। यथा मेघदूते यक्षः मेघेन स्वहृदयभावनां निवेदयति तथैवात्र कुमारी चन्दनबाला निजाश्रुभिरेव स्वव्यथां कथयति—

> वाष्पा! आशु व्रजत नयतेक्षध्वमेष प्रयाति,
> साक्षात्प्राप्तः परिचितवृषैः प्रापणीयस्तपस्वी।
> सार्थञ्चैकोऽनुभवति विपद्भारमोक्षश्च युष्मां-
> ल्लब्ध्वा नान्यो भवति शरणं तत्र यूयं सहायाः॥[5]

वाष्पारमोघशक्तिसम्पन्नाः विपत्कालस्यानन्यसहायाश्च। गायति कविः महाप्रज्ञः—

> चित्राशक्तिः सकलविदिता हन्तयुष्मासु भाति,
> रोद्धु यान्नाक्षमत पृतना नापि कुन्ताग्रमुग्रम्।
> खातं गर्ता गहनगहनं पर्वतश्चापगाऽपि,
> मग्नाः सद्यो वहति विरलं तेऽपि युष्मत्प्रवाहे॥[6]

वाष्पकलितशब्दैः सह वार्तालापं कुर्वती सा एवमाह—

> सद्यो वातावरणमखिलं क्षोभयन्त्यो लहर्यो,
> युष्माकं तं निरुपममहो ध्यानलीन समेत्य।
> क्षोभात्मानं निजकमुचितं विस्मरेयुर्न भावं,
> कश्चिच्चित्रो भवति भुवने यन्महात्म प्रभावः।[7]

चरित्रचित्रनम्—चरित्रचित्रणकलायां सफलो महाकविर्महाप्रज्ञः। अश्रुवीणायाः पात्राणां द्वैविध्यं लक्ष्यते-तद्यथा—

1. मानवीय पात्रविशेषाः भगवान्महावीरः कुमारीचन्दनबाला, दधिबाहनशतानीकौ कामुकरथिकः वेश्यावणिकौ वणिक्पत्नी च।

2. अमूर्ताचेतनपात्रविशेषाः यथा श्रद्धाशब्दादयश्च।

मानवीयपात्रेषु प्रथमस्तु भगवतः महावीरस्योपन्यास क्रियते। स तु भारतीयवाङ्मये प्रथितचरित्रोऽस्ति। वैशाली-लिच्छवीगणराज्यस्य क्षत्रिय-

कुलोत्पन्नः राजकुमारो निजसाधनातपवीर्यपराक्रमैः महावीरोऽभवदिति ख्यातिः। अश्रुवीणायां तस्य महत्त्वपूर्णगुणानां प्रतिपादनंकृतमस्ति। सर्वप्रथम त्रयोदशभिग्रह पूर्तिकामनया ग्रामानुग्रामं विहरतः निर्ग्रन्थानामधिपतेः महावीरस्य दर्शनं भवतिः—

निर्ग्रन्थानामधिपतिरसौ पश्चिमस्तीर्थनाथो—
देहस्नेहं सहजसुलभं बन्धनहेतुं व्युदास्य।
दीर्घं कालं विविधविधिभिर्घोररूपं तपस्य—
न्नेकं कश्चित् कुलिशकठिनोऽभिग्रहं चारु चक्रे॥[8]

भगवान् महावीरः अशरणानां परमशरण्यभूतोऽस्ति। अकिंचनपुरुषानां स्त्रीजनानाञ्चापूर्वमाशास्थान मस्ति भगवान् ज्ञातपुत्रः—

आशास्थानं त्वमसि भगवन्! स्त्रीजनानामपूर्वं,
त्वत्तो बुद्ध्वा स्वपदमुचितं स्त्रीजगद् भावि धन्यम्।
जिह्वां कृष्टवाऽसहनरथिकः काममत्तोऽम्बया मे,
दृष्टिं नीतोऽस्तमितनयनस्तत्र दीपस्त्वमेव॥[9]

त्रिभुवनरक्षकस्य भगवतः स्वरूपमत्रावलोकनीयम्ः—

अत्राणानां त्वमसि शरणं त्राहि मां त्राहि तायिन्,
ग्रह्णीस्वैतान् सकरुणदृशा नीरसान् सूर्पमाषान्।
अन्तःसाराः सहजसरसा यच्च पश्चन्ति गूढा—
नन्तर्भावान् सरसमरसं जातु नो वस्तुजातम्॥[10]

भगवान् श्रेष्ठतपस्वी पवित्रकुलसम्पन्नः शुचौविश्वासनिरतश्च

स्मर्तव्यं तद् यतिपतिरसौ पूतभावैकनिष्ठो,
नेयस्तस्मादृजुतमपथैः पावनोत्सप्रतीतिम्,
साहाय्यार्थं हृदयमखिलं सार्थमस्तुप्रयाणे,
तस्योद्घाटः क्षणमपि चिरं कार्यपाते न चिन्त्यः॥[11]

भगवानन्तर्वेदी प्रकरणपटुः निश्छिद्रो दोषरहितश्च—
निश्छिद्रेऽस्मिन् भगवति पुनश्छिद्रमन्वेषयेयुः,।[12]

भगवान् चन्दनबालायाः श्रद्धाभावोद्रेकात् पुनर्निवर्त्य भिक्षां स्वीकृतवान्। एतत्दृश्यस्य मनोरमचित्रणं चित्रयति चतुरचित्रकारो महाप्रज्ञः

पाणी दात्र्याः प्रमद-विभव-प्रेरणात्कम्पमानौ,
स्निग्धौ क्वापि व्यथित पृषता माषसूर्पं वहन्तौ।
आदातुस्तौ दृढतमबलात् सुस्थिरौ सानुकम्पौ,
सद्योऽकार्ष्टां हृदयसजलौ सूर्पमाषान् वहन्तौ॥[13]

सद्योजातं स्थपुटमखिलं प्रांगणं रत्नवृष्ट्या,
त्रुट्यद्बन्धं गगनपटलं जातमेतत् प्रतीतम्।
तर्कक्षेत्रं भवतु सुतरामेष योगानुभाव—
स्तद्भाग्याभ्रे रविरुद्गमत् स्पष्टमद्याऽपि तत्तु॥[14]

लावण्यवतीचन्दनबालायाः रूपसौन्दर्यमत्रावलोकनीयम्। सा नकेवलंबाह्यरूपेणरूप्या परन्तु आभ्यन्तरिक सौन्दर्येण समन्विता। संसारकष्टकष्टीकृता विपन्नमानसवती कुमारी चन्दनबाला व्यथिता श्रद्धायुक्ता हर्षोत्फुल्ला विषण्णा आशायुक्ता कृतकृत्या महावीरसाध्वीसंघप्रमुखा चेति विविधरूपेणोपस्थिताऽस्मिन् गीतिकाव्ये। प्रथमावस्थायां श्रद्धास्वरूपं व्याकुर्वती आगच्छति। सा चिरकुमारी श्रद्धायाः व्याख्यां करोति—

सत्सम्पर्का दधति न पदं कर्कशा यत्र तर्काः
सर्वं द्वैधं व्रजति विलयं नाम विश्वासभूमौ।
सर्वेस्वादाः प्रकृतिसुलभा दुर्लभाश्चानुभूताः,
श्रद्धा-स्वादो न खलु रसितो हारितं तेन जन्म॥[15]

सर्वाभिग्रहानां विद्यमाने सति-अपि वाष्पानामभावात् भगवान् भिक्षां न गृहीतवान् अपितु प्रतिगतवानिति। एतत्दृश्यं दृष्ट्वा चन्दना मोहाभिभूता मूर्च्छिता च जाता। केवलमश्रूणामविरलत्वेन तस्या जीवनाङ्को सूचयति —

वाणीवक्त्रान्न च बहिरगाद् योजितौ नापि पाणी,
पाञ्चालीवाऽनुभवविकला न क्रियां काञ्चिदार्हत्।
सर्वैरङ्गैः सपदि युगपन्नीरवं स्तब्धताऽऽप्ता,
वाहोऽश्रूणामविरलमभूत् केवलं जीवनाङ्कः॥[16]

आशानिराशयोन्तर्द्वन्द्वादेव चरित्रस्य विकासो भवति। महावीरे प्रतिगते सति चन्दनायाराशावल्लरी विनष्टाजाता परन्तु कञ्चिद्–कालानन्तरं आन्तरिकीशक्तिं समुद्भाव्य वाष्पानावाह्य च एवमुवाचः —

'वाष्पाः! आशु व्रजेतेति' शेषं तु पञ्चसंख्यात्मक पादटिप्पण्यां दृश्यम्।

दैन्यावस्थायां शब्दैः निजव्यथां निरूपयती सा बाला स्त्रीधनस्य विवरणं विवृणोति। साऽपि एतादृशसम्पत्तिशालिनी। हे आस्वादन चतुरा आस्वाद्यन्ताम्—

श्रद्धाश्रूणि प्रकृतिमृदुता मानसोद्घाटनानि,
निश्वासाश्चाखिलमपि मया स्त्रीधनं विन्ययोजि।
सानुक्रोशो मयि परमतः सैष भावी नवेति,
सापेक्षाण्यमपरमपरं स्याज्जगत्तत्परेषाम् ॥[17]

विरहव्यथितानां यारनिद्रास्वप्नदर्शनादिविविधाऽवस्थाः भवन्ति ताः चन्दनबालायां लक्ष्यन्तेः—

धन्या निद्रा स्मृतिपरिवृढं निह्नुते या न देवं,
धन्याः स्वप्नाः सुचिरमसकृद् ये च साक्षान्नयन्ते॥[18]

नैराश्यपीडितायाः विरहिण्याः निश्वाससमन्वितध्वनिभिः गगनं परिव्याप्तं भवतिः—

नैराश्येन ज्वलति हृदये तापलब्धोद्भवानां,
निःश्वासानां ध्वनिभिरुदितै—र्गाहिरे व्योम–मार्गाः॥[19]

भगवान्महावीरो चन्दनबालायाः भक्तिप्रभावाद् पुनश्च भिक्षाग्रहितुकामो प्रत्यागतः परन्तु सा विश्वस्तानाभूत्। चंचलभावेषु मज्जनोन्मज्जमानायाः कातरभूतायाः चन्दनबालायाः रूपलावण्यमत्रावलोकनीयम्—

आश्वस्तापि क्षणमथ न सा वाष्पसङ्गं मुमोच,
प्लुष्टो लोकः पिबति पयसा फूत्कृतैश्चापि तक्रम्।
संप्रेक्षायामधृतितरलाश्चक्षुषां कातराणा—
मासन् भावाः किमिव दधतो मज्जनोन्मज्जनानि॥[20]

भक्ता: भगवन्तमेव उपलम्भन्ति। चन्दनबालाऽपि भगवन्तं महावीरं उपालम्भं ददाति:—

राज्यं त्यक्तुं परनृपतिना पारवश्यं प्रणीता,
प्राणान्तोऽपि स्फुटितनयनैरेभिरालोकि मातु:।
वेश्याहर्म्येऽप्यरुचिगमनं प्रापिता विक्रयेण,
विक्रेत्रार्हं विपणिसरणौ मूल्यमायोजिभूय:॥
बद्धाक्रूरं करचरणयो: शृंखलैरायसैर्हा,
मूर्तिंप्राप्ताविकचशिरसि प्रज्वलन्त्य: शलाका:।
कष्टाश्रूणां सरिति सततं मग्नमास्यं विलोक्य,
त्वां यत्फुल्लं तदपि भगवन्! न त्वया द्रष्टुमिष्टम्॥[21]

आत्मनिरीक्षणं कुर्वती सा बाला एवं चिन्तयति यत् भगवान् पूर्वं भिक्षाग्रहणं विना प्रतिगतवानासीदित्यस्य कारणं न कुल्माषा: न ममदरिद्रता चापितु मम हर्षोत्कर्षैवास्ति यत: अति प्रयोगो निषिद्ध: —

कुल्माषा नाऽजनिषत तवैत: प्रतिक्रान्ति हेतु:,
स्वादोनाम स्पृशति न पलं त्यक्तदेहस्य जिह्वाम्।
नि:स्वत्वञ्चाप्यभवदिह नो मुक्तसर्वस्वकस्य,
हर्षोत्कर्षोऽभवदिति यतोऽति प्रयोगो निषिद्ध:॥[22]

तदानीमेव पूर्ववृतान्तं स्मरति सा। पृष्ठावलोकनशैल्यां तस्या पूर्वजीवनमुपस्थापयति कवि:—

यां मन्येऽहं सदयहृदयां मातरं निश्छलात्मा,
सा मामेवं नयति भगवन्! निग्रहं मन्तु-बुद्धया।
कश्चित् क्रूरो ग्रह इह परिक्रामतीति प्रभाते,
चित्रं प्राचीं स्पृशति तरणौ नाधुनाप्यस्तमेति॥
एषा बद्धा नृपति-दुहिता नेति किञ्चित् विचित्रं,
एषा बद्धा त्वयि कृतमतिश्चित्रमेतद् विशिष्टम्।
भावोद्रेकं लघु गतवती विस्मृतात्मा बभूव,
सा का श्रद्धां न खलु जनयेद् विस्मृतिं स्थूलताया:॥[23]

सम्यक्श्रद्धायाः फलमवश्यमेव प्रादुर्भवति नात्र भाजनम्। चन्दनायाः श्रद्धाऽद्य फलिता जाता। तस्या शरीरोपरि स्थिता लौहमयीशृंखला स्वर्णाभूषाऽभूत्। मुण्डिते शीर्षे श्यामाः सुविकचकचाः प्रोद्गमं लब्धवन्तः। विकृतं रूपं क्षणेनैव परमरम्यतामवाप। अहो श्रद्धायाः प्रभावः विकल्पैः न गाहनीयः।

'यन्न श्रद्धाविरचितमहो गाहनीयं विकल्पैः'।[24]

भक्त्युद्रेकात् भक्ताः निजकष्टान् विस्मरन्ति। चंदनबालायारपि एतादृशी-अवस्था संजाता—

'भक्त्युद्रेकात् स्मृतिमपि तनुं नाप्यकार्षीत् क्षुधायाः'।[25]

कुल्माषदानकुर्वत्याः चन्दनायाः भव्यास्थितिः समुत्पन्ना।[26] भगवतः कृपावशात् तस्या प्रांगणे रत्नवृष्टिरभूत् परन्तु सा अनासक्ता एव। ऊर्ध्वश्रद्धासम्पना सा सर्वं श्रेष्ठष्टं साधितवतीः—

जाता यस्मिन् सपदि विफला हावभावा वसानां,
कामं भीमा अपि च मरुतां कष्टपूर्णाः प्रयोगाः।
तस्मिन् स्वस्मिल्लयमुपगते वीतरागे जिनेन्द्रे,
मोधो जातो महति सुतरामश्रुवीणा-निनादः।।[27]

भावपदार्थानां मूर्त्तचित्रोपस्थापनं महाकवेर्महाप्रज्ञस्य वैशिष्ट्यम्। श्रीकृष्णमिश्रस्य प्रबोधचन्द्रोदये विवेकमोहश्रद्धारति-कामक्रोधादीनां पात्ररूपेणोपस्थानं कृतमस्ति। काव्येऽस्मिन् सारस्वतोमहाप्रज्ञः अमूर्त्तचित्रणकलायां चतुरोऽस्ति। मेघदूतवदत्रापि वाष्पमिश्रित-शब्दैः (निर्जीवपदार्थेण) दौत्यकार्यस्य निरूपणंकृतमस्ति। निर्जीवपदार्थेषु जीवत्वारोपणं महाप्रज्ञस्य महनीयमेधायाः निदर्शनम्।

श्रद्धायाः सौन्दर्यम्-श्रद्धा अवितथा सर्वप्रापणसमर्था। श्रद्धयैव भक्ताः भगवंतमाप्नुवन्ति प्रियतमा प्रियतमगृहेषु गच्छन्ति च। महाकविर्महाप्रज्ञः श्रद्धायाः परिषाभाषां भाषयनेव काव्यमारभति

श्रद्धे! मुग्धान् प्रणयसि शिशून् दुग्ध-दिग्धास्यदन्तान्,
भद्रानज्ञान् वचसि निरतांस्तर्कबाणैरदिग्धान्।

विज्ञांश्चापि व्यथितमनसस्तर्कलब्धावसादा—
त्तर्केणाऽमा न खलु विदितस्तेऽनवस्थानहेतुः ॥[28]

यत्र श्रद्धा तत्र आनन्दधारा प्रवहति यत्र नास्ति सा तत्र ।वपुल दुःखमेवोच्छलति :—

तत्रानन्दः स्फुरति सुमहान् यत्र वाणीं श्रिताऽसि,
दुःखं तत्रोच्छलति विपुलं यत्र मौनावलम्बा।
किं वाऽऽनन्दः किमसुखमिदं भाषसे सप्रयोगं,
त्वामाक्षिप्य स्वमतिजटिलास्तार्किका अत्रमूढाः।[29]

श्रद्धास्वादो येन न रसितो हारितं तेन जन्म। श्रद्धातर्कयोः श्रद्धैव समीचीनाऽस्ति श्रद्धा कल्पनासृष्टोपास्यस्य साक्षात्कारं करोति परन्तु तर्काः प्रत्यक्ष प्राप्तपूज्यानामपि विषये भ्रमोत्पादयन्ति :—

अन्धा श्रद्धा स्पृशति च दृशं तर्क एषाऽनृता धीः,
श्रद्धा काञ्चिद्भजति मृदुतां कर्कशत्वञ्च तर्कः।
श्रद्धा साक्षाज्जगति मनुते कल्पिनामिष्टमूर्तिं
तर्कः साक्षात् प्रियमपि जनं दीक्षते संदिहानः।[30]

वाष्पानां चित्रोपस्थाने महाकविः पूर्णतः साफल्यं लेभे। यत्र नान्यत्कोऽपि सहायाः भवन्ति तत्र वाष्पारेव सहाय्यं कुर्वन्ति। तेषां प्रवाहे महावीरमहापुरुषा अपि निमज्जंति।शब्दानां स्वरूपसंधारणे कारयित्रीप्रतिभासम्पन्नाश्रुवीणाकारको महाप्रज्ञ सफलोऽभूत्—

जीवाजीवैरपि तदुभयैर्यूयमुत्पद्यमाना,
अभ्रे मूर्तिं जनयथ निजां चित्ररेखाश्च भूमौ।
चित्रं युष्मान् श्रवण विषयान् मन्यतेऽद्यापि लोकाः,
सूक्ष्मैर्भाव्यं न खलु विदुरैः स्थूलदृष्टिं गतेषु ॥[31]

रसविमर्शः — रस्यते आस्वाद्यते इति रसः, रम्यते अनेनेति रसः, रसति रसयति वा रसः, रसनं रसः आस्वादः।[32] आस्वाद्यत्वाद्रसः[33] यथाहि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः भवति तथा नाना भावोपगा-

माद्रसनिष्पत्तिः।[34] विभानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः इति भरतः।[35] विश्वनाथमतानुसारेण विभानुभावसंचारीयोगात् सहृदयहृदये विद्यमान वासनारूप-स्थायीभावानां पूर्णपरिपक्वावस्था एव रसः —

विभानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्।।[36]

काव्येऽस्मिन् शान्तरसस्य प्राधान्यमस्ति। तत्वज्ञानादथवा निर्वेदवैराग्यात् शान्तरसस्योत्पत्तिः। अनित्यसंसारस्य परिज्ञानमथवा परमार्थचिन्तनमस्यालंबन विभावाः सत्संगति साधुदर्शन पुण्याश्रम ध्यान समाध्यादयरस्य उद्दीपनरूपाः। घृतिनिर्वेदमतिस्मृतिहर्षादित्यस्य संचारीभावाः रोमांचादि अनुभावाः। साहित्यदर्पणे वृहद्रूपेण निरुपितमस्ति।[37] कलिकालसर्वज्ञाचार्य हेमचन्द्रः तृष्णाक्षयरूपक्षमः स्थायिभाव युक्तो शान्तरसेति कथयतिः —

वैराग्यादिविभावो— तृष्णाक्षयरूपः शमः स्थायिभावः प्राप्तः शांतोरसः।[38]

खण्डकाव्येऽस्मिन् भक्तिमूलकशांतरसस्य प्रवाहो प्रवहति। रथिकादीनां क्रूरकर्मात् संसारनिर्वेदापन्ना सतीचन्दनबाला भगवति महावीरे एव अखण्डात्मिकां रतिं स्थापयति। तस्याः निर्वाण सुखमथवा मोक्षानन्दो परमलक्ष्यम्। 'श्रद्धे! मुग्धान् प्रणयसि' रूपपरमपवित्रसमताभूत-द्वैधविलयरूप श्रद्धासरोवरात् या शान्त प्रस्रविनी प्रवाहिता सा प्रतिक्षणं वर्द्धमाना क्षणेक्षणे यन्नवतामाप्नुवती 'मोघो जातो महतिसुतरामश्रुवीणा निनादेति-आनन्दसागरे मोक्षाम्बुधौ वा परमविश्रान्तिं प्राप्नोति। अश्रुवीणायां कुमारी चन्दना सर्वान् दु:खनतिक्रम्य परमशिवभूतमोक्षफलप्रापक-निर्वाण मार्गमाप्नोति अततस्मात् दु:खविमोक्षणरूपत्वात् शान्तरसस्य महत्वमाचार्यैः गीतमस्ति—

मोक्षफलत्वेन चायं शांतोरसः परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात्सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः।[39]

भाषा– अश्रुवीणायाः भाषाप्रवाहो सरलो मनोरमभावाभिव्यञ्जकश्चास्ति। कोमलकल्पनया शब्दरमणीयतया प्राञ्जलपदविन्यासेन च समन्वितमिदं गीतात्मकखण्डकाव्यम न्यानतिशेते। भक्तिश्रद्धा समन्वित हृत्प्रदेशात्-

निःसृता भाषा सहजैव भवति। **वैदर्भीरीत्याः** विलासो प्रसाद माधुर्यगुण-योराधिपत्यञ्च परिलक्ष्यते। उपमोत्प्रेक्षार्थातरन्यासाद्यलंकारैरलंकृता भाषा सर्वेषां सहृयानां चेतांसि चोरयति बलाद्।

सूक्तिसौन्दर्यमत्र चर्व्यमस्ति। प्रतिश्लोकं सूक्तिप्रयोगात् भाषासौन्दर्यं सम्बर्धितमसि। निदर्शनं द्रष्टव्यम्।

1. श्रद्धास्वादो न खलु रसितो हारितं तेन जन्म ।।4।।
2. श्रद्धापात्रं भवति विरलस्तेन कश्चित्तपस्वी ।।5।।
3. भक्त्युद्रेकाद् द्रवति हृदयं द्रावयेत्तन्न कं कम् ।।7।।
4. कार्यारम्भे फलवति पलं न प्रमादो विधेयः;
सिद्धिर्वन्ध्या भवति नियतं यद् विधेय श्लथानाम् ।।27।।
5. यन्मूकानां न खलु भुवने क्वापि लभ्या प्रतिष्ठा ।।31।।
6. नासंभाव्यं किमपि हि भवेद् पूतवंशोदयानाम् ।।50।।

उद्देश्य – महाकवेर्जीवनस्यानुरूपमेव तस्यकृतेरुद्देश्यं लक्ष्यं वा भवति। अस्यकविः संसारदुःखविमोचने संलग्नोऽस्ति अतस्मात् दुःखविमोक्षणं निर्वाणपद प्रतिष्ठापनञ्चास्य परमप्रयोजन मभिलक्ष्यं वाऽस्ति। अश्रुवीणायाः दिव्यध्वनिमवलब्य न केवलचन्दनबालाएव चारु–भवने प्रतिष्ठिता अपितु नैका भव्यारपि तस्या शरणं गृहीत्वा संसारसागरस्य पारंमगच्छन् गच्छन्ति गमिष्यन्तीति।

पादटिप्पण

1. आचार्य महाप्रज्ञ कृत–
2. दशरूपकम्
3. साहित्यदर्पण
4. त्रयोदशाभिग्रहा–देखें अश्रुवीणा
5. अश्रुवीणा श्लोक संख्या–23
6. तत्रैव – 24
7. तत्रैव – 35
8. तत्रैव – 7
9. तत्रैव – 14
10. तत्रैव – 16
11. तत्रैव – 26
12. तत्रैव – 32
13. तत्रैव – 92
14. तत्रैव – 23
15. तत्रैव – 4
16. तत्रैव – 21

17. तत्रैव - 46
18. तत्रैव - 49
19. तत्रैव - 50
20. तत्रैव - 52
21. तत्रैव - 56-57
22. तत्रैव - 78
23. तत्रैव - 81-82
24. तत्रैव - 83
25. तत्रैव - 87
26. तत्रैव - 92
27. तत्रैव - 100
28. तत्रैव - 1
29. तत्रैव - 3
30. तत्रैव - 73
31. तत्रैव - 34
32. संस्कृतसाहित्यशास्त्रकोशः पृ.1038
33. तत्रैव, पृ.1039
34. नाट्यशास्त्र, 6.2
35. तत्रैव, 6.2
36. साहित्य दर्पण
37. तत्रैव - 3.245-248
38. काव्यनुशासनम् - 2.17
39. संस्कृत साहित्यशास्त्र कोशः

अश्रुवीणा का गीतिकाव्यत्व

'समत्व के सौम्य-सरोवर से निःसृत गांगेय धारा का नाम है— गीतिकाव्य। विरह, वेदना, भक्ति या श्रद्धा से जब वैयक्तिक स्थिति व्यक्तिगत न रहकर सांसारिक हो जाती है तब कहीं 'ललित-लवंग-लता-परिशीलन-कोमल-मलय-शरीरे", रूप गीत-लहरियाँ लुलित होने लगती हैं। जहाँ स्वकीयत्व-परकीयत्व का सर्वथा अभाव हो जाता है, जहाँ 'क्षणे-क्षणे यन्नव-तामुपैति', ही शेष रहता है, वही स्थान गीतोदय के लिए उपयुक्त माना जाता है। चाहे विरह-विदग्धा-भागवती गोपियों की गीत-सरणि हो या भक्त कवि जयदेव की मनोमय-स्वर-लहरियाँ या विरही यक्ष के कारुणिक-उद्गार हों या अश्रुवीणा की चन्दना का श्रद्धा-संचार, सबके सब दर्द की आह से ही निःसृत हुए हैं। आशावल्लरी जब सूखती नजर आती है, सामने से ही उसका जन्म-जन्मान्तरीय काम्य तिरोहित हो जाता है, तब कहीं उस अक्षत-यौवना गीताङ्गना का धरा पर अवतरण होता है। तब रूप राम का स्थान ले लेता है। काम का ग्राम शील का धाम बन जाता है।

गीति-काव्य का रचयिता भी कोई सामान्य नहीं होता। जिसने हृदय-नगर को देख लिया है, जिसके नेत्र हमेशा अपने प्रियतम के दर्शन के लिए लालायित रहते हैं, जो प्रेमी के लिए, आहें भरते-भरते 'हरिमवलोकय सफलय-नयने' को गुञ्जारित कर सम्पूर्ण संसार को हरिमय किंवा आत्ममय बना देता है। उसी की अँगुलियों में गीति-वीणा के तार को झंकृत करने की शक्ति होती है। जिसने दर्द की आहें नहीं भरीं, जहाँ करुणा के आँसू तरंगायित नहीं हुए, वह जीवन सुख से वंचित ही माना जाएगा।

लोक एवं शास्त्र में जो सार्वजनीन विभूति के रूप में अधिष्ठित हो चुका है। वही व्यास की तरह गोपीगीत का, कालिदास की तरह मेघदूत का और

जयदेव की तरह गीत गोविन्द की विरचना कर सकता है। विवेच्य गीति-काव्य 'अश्रु वीणा' का कवि भी इसी समरसता के धरातल पर अधिष्ठित है। महाप्रज्ञ के सार्थक अभिधान से विभूषित इस श्रमण कवि ने अवश्य ही अपनी कल्पना-नगर के श्रद्धा-गृह में स्थित होकर अपने आराध्य चरणों में आँसुओं की पुष्पांजलियाँ चढ़ाई होंगी। वे ही अंजलियाँ बाद में शब्दांजलि बनकर अश्रुवीणा के रूप में अक्षरित दृग्गोचर हुईं। चन्दनबाला की मुक्ति का कथानक ग्रहण कर महाकवि महाप्रज्ञ ने अश्रुवीणा का निर्माण तो किया, साथ ही अपनी मुक्ति-प्राप्ति की वेदना को भी शब्दायित करने से पीछे नहीं रहे। अस्तु।

'गीति-काव्य' अंग्रेजी लिरिक' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। पाश्चात्य काव्य-समीक्षा में अन्तर्वृत्तिनिरूपक अथवा स्वानुभूति-अभिव्यंजक काव्य को 'लिरिक' कहा जाता है। यह विधा अन्तर्जगत् के नाना-व्यापारों को बाह्याभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए उत्कृष्ट एवं सफल साधन है। इसमें वृत्तियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं और आत्मावस्था का प्रकाशन ही मुख्य होता है। अनुभूति और भावना की अजस्र-धारा में वस्तु-तत्त्व न जाने बहकर कहाँ चला जाता है। कवि या कलाकार तूष्णीभाव से प्रकृति के कार्य-कलापों का अवलोकन करता होता है कि अचानक कोई घटना घट जाती है जिसके फलस्वरूप उसका अन्तर्मन उद्वेलित हो जाता है और तब जन्म-जन्मान्तरीय संचित भावनाएँ शब्दों की सुन्दर-माला के माध्यम से अभिव्यक्ति पा जाती हैं, उसे ही साहित्य-लोक में गीति-काव्य कहा जाता है।

सुप्रसिद्ध सौन्दर्य-शास्त्री 'जाफ्राय' ने गीतिकाव्य को काव्य पर्यायार्थक मानते हुए स्वात्मानुभूति एवं आह्लादजन्यता आदि को उसका प्रमुख तत्त्व स्वीकार किया है।[3] हेगेल के अनुसार गीति-काव्य में शुद्ध कलात्मक रूप से आंतरिक-जीवन के रहस्यों, उसकी आशाओं, उसमें तरंगायित आह्लाद, वेदना, प्रलाप या उन्माद का चित्रण होता है।[4] अर्नेस्ट राइस ने हृदयगत भावों की संगीतमय-अभिव्यक्ति को गीति-काव्य माना है। राइस महोदय के अनुसार गीतिकाव्य में अनुभूति, कल्पना और संगीत—तीन तत्त्वों का होना आवश्यक है। कवि के स्वान्तःकरण में स्थित मार्मिक भावों की शाब्दिक-अभिव्यक्ति

गीतिकाव्य है। जब कवि की स्वात्मानुभूति सुख-दु:ख या अन्तर्वेदना स्वाभाविक स्वर-लहरियों से युक्त होती हैं, जब गीतिकाव्य का जन्म होता है। महादेवी वर्मा के अनुसार जब भावावेश अवस्था में स्वात्मगत सुख-दु:ख की अभिव्यक्ति होती है तो गीतिकाव्य बनता है। कभी-कभी वे क्षण आते हैं जब सफल व्यक्तित्व-सम्पन्न पुरुष की, अपने प्रिय को याद कर या उसके प्रति श्रद्धा भक्ति से अथवा अन्य किसी कारण से, आँखें थम जाती हैं। वह कुछ प्रलाप करने लगता है। वह प्रलाप ही गीति-काव्य है। अश्रुवीणा का कवि भी अवश्य ही इस अवस्था से गुजरा होगा। 'अश्रुवीणा' में ये सभी अभिव्यक्तियाँ परिलक्षित होती हैं:—

1. श्रद्धा की पूर्ण अभिव्यक्ति- उस सोतस्विनी का प्रारम्भ श्रद्धा के धरातल से ही होता है। जब किसी प्रेमी या उपास्य के प्रति श्रद्धा की अतिरेकता हो जाती है, श्रद्धा के वशीभूत हो कवि संसार से अलग हटकर तन्मयत्व की स्थिति में चला जाता है, तब वह इतना विगलित होता है कि कभी वह श्रद्धा की परिभाषा देता है तो कभी श्रद्धा को ही सर्वस्व मान बैठता है:—

श्रद्धे! मुग्धान् प्रणयसि शिशून् दुग्धदिग्धास्यदन्तान्
भद्रानज्ञान् वचसि निरतांस्तर्कवाणैरदिग्धान्।
विज्ञांश्चापि व्यथितमनसस्तर्क लब्धावसादा-
त्तर्केणाऽमा न खलु विदितस्तेऽनवस्थानहेतु:॥[5]

ऐसा लगता है जैसे कोई महाकवि संसार को मनोविज्ञान की शिक्षा दे रहा है। यह तथ्य भी है कि सत्य, काव्य में सुन्दर का रूप धारण कर लेता है, जो अपने पूर्व रूप से अधिक रमणीय होता है। श्रद्धा आनन्द की माधवी स्फुरणी है, तो द्वैध-विलय का धाम भी है। वहाँ सम्पूर्ण विषमताएँ मिलकर सरस हो जाती हैं, इसीलिए श्रद्धा का स्वाद सर्वश्रेष्ठ है। जिसने इसको नहीं चखा उसका जन्म ही वृथा है:—

सत्सम्पर्का दधति न पदं कर्कशा यत्र तर्का:,
सर्वद्वैधं व्रजतिविलयं नाम विश्वासभूमौ।
सर्वे स्वादा: प्रकृतिसुलभा दुर्लभाश्चानुभूता:,
श्रद्धा-स्वादो न खलु रसितो हारितं तेन जन्म[6]॥

श्रद्धा का पात्र कोई सामान्य नहीं हो सकता। गोपियों के श्रद्धा पात्र कृष्ण हैं जो सार्वभौम अधिपति के रूप में स्वीकृत हैं। कालिदास की श्रद्धास्पदा विधाता की आद्या सृष्टि है।[7] आचार्य महाप्रज्ञ के श्रद्धापात्र भगवान् महावीर है। श्रद्धा का निवास भी महाप्रज्ञ जैसे विरल-साधक में ही होता है—श्रद्धापात्रं भवति विरलस्तेन कश्चित्तपस्वी।[8]

2. आत्माभिव्यक्ति—गीति-काव्य का कवि अलग से कुछ नहीं कहता है। अपने जीवन की सुख-दु:ख की अनुभूति, अपने विश्वास और उद्देश्य को ही गीत के रसमय स्वरों में अभिव्यक्त करता है। कहा जाता कि कालिदास विरह की ज्वाला में जले थे। इसलिए उन्होंने यक्ष पर विरह-वेदना आरोपित कर मेघदूत की रचना की। जयदेव भक्त थे इसलिए अपनी शब्दाञ्जलियाँ प्रभु श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित कर उन्हीं के हो गए। कविमहाप्रज्ञ भी इसी सरणि में प्रतिष्ठित हैं। इन्होंने भगवान् महावीर के चरणों में व्याप्त अपनी अविच्छिन्न आस्था, श्रद्धा और समर्पण को चन्दना के आँसुओं के माध्यम से व्यक्त किया। कवि बार-बार चन्दना के आँसुओं के ब्याज से प्रभु चरणों में अपनी व्यथा-कथा को समर्पित करता दिखाई पड़ रहा है। ऐसा लगता है कि विवेच्य कवि संसार के झंझावत से आहत हो चुका है। अनगिनत रथिकों के क्रूरकर्म से उसका हृदय विदीर्ण हो चुका है। यही तथ्य आँसुओं से चन्दना कह रही है।

अन्तस्तापो वत भगवते सम्यगावेदनीयो,
युष्मद्योग: सुकृत सुलभ: संशये किंतु किंचित्।
नित्याप्रौढा: प्रकृतितरला मुक्तवाले चरन्त:,
शीतीभूता ह्यपि च पटव: किं क्षमाभाविनोऽत्र॥[9]

3. समर्पण की भावना – गीतिकाव्य में यह भावना बलवती होती है। उपास्य या प्रेमी के प्रति सब कुछ समर्पित कर दिया जाता है। कर्म-अकर्म सब कुछ समर्पित कर जब भक्त तदाकारत्व की स्थिति में आ जाता है तभी गीत का प्रस्फुरण होता है। वहाँ भौतिक-सम्पदाएँ निर्मूल्य हो जाती हैं। अपने हृदय को खोलकर रख दिया जाता है। यही तो उसका वैभव है। चन्दना कहती है-श्रद्धा के आँसू, प्रकृति की कोमलता, हृदय का उद्‌घाटन और आहें—ये नारी के वैभव हैं, इन्हें भी मैं प्रभु-चरणों में समर्पित कर चुकी हूँ—

श्रद्धाश्रूणि प्रकृतिमृदुत्ता मानसोद्‌घाटनानि।
निःश्वासाश्चाखिलमपि मया स्त्रीधनं विन्योजि॥[10]

ये न केवल नारी-समाज के वैभव हैं बल्कि सम्पूर्ण सचेतन-प्राणियों के एकमात्र अवलम्ब भी हैं। जहाँ प्रापञ्चिक् जगत् उपरत हो जाता है—वहां केवल ये ही शेष रहते हैं जो अपने उपजीव्य-संगति की प्राप्ति में सहायक भी होते हैं।

4. **रमणीयता**—रमणीयता, परात्परता, रोमांचकता, अधीरता आदि गीतिकाव्य के प्राण तत्त्व हैं। जब तक कवि अधीर नहीं होता उसका धैर्य टूट नहीं जाता तब तक गीतिकाव्य का प्रादुर्भाव कहां? इस अधीरता का एकमात्र कारण अपने प्रियतम की प्राप्ति में व्यवधान ही है। शापवशात् यक्ष प्रियतमा से अलग हुआ। आषाढ़ के प्रथम दिवस में मेघ को देखकर अधीर हो गया। प्रियतमा की यादें उसे सताने लगी। बस इतना ही काफी है—हृदय की समस्त भावनाएँ बहिर्भूत् हो निकलने लगीं।[11] वैसी शाब्दिक अभिव्यक्ति में रमणीयता, रोमाञ्चकता आदि सहज ही विद्यमान हो जाती है। अधीर चन्दनबाला की भी यही अवस्था है—भगवान् भिक्षा लेने के लिए प्रस्तुत थे। चन्दनबाला की आँखें उनकी प्रतीक्षा में अधीर हो रही थीं—

भिक्षां लब्धुं प्रसृतकरयोः सम्प्रतीक्षापटुभ्यां,
तच्चक्षुर्भ्यां हसितमियताऽपूर्व हर्षोदयेन।[12]

भगवान् के पुनरागमन से चंदनबाला का ताप, शीतलता और पावनता में बदल गया। सब कुछ रमणीय हो गया क्योंकि उसकी साध पूर्ण हो रही है। उसकी आँखों में अवशिष्ट आँसुओं की बूँदें भिक्षा-विधि में दाता और ग्रहीता का दृश्य देखने के लिए उत्सुक हैं—

सा संरुद्धा विरलतनवः केवलं बिन्दवस्ते,
तस्थुर्भिक्षा-ग्रहण-सरणिं स्वामिनो द्रष्टुमुत्काः।[13]

5. **पूर्व निरीक्षण**— हर्ष या विषाद जब चरमावस्था पर पहुँच जाते हैं तब व्यक्ति अपने पूर्व जीवन का स्मरण करने लगता है। विरही जीवन के लिए तो पूर्वकृत स्मरण अँधे की लकड़ी के समान होता है। साहित्य की भाषा में इसे पृष्ठावलोकन शैली कहते हैं। यक्ष पूर्वकृत स्मरण कर ही जीवन धारण किए हुए हैं।

हर्षाधिक्य में भी ऐसी ही स्थिति होती है। दुःख के बाद सुख की प्राप्ति कितनी आनन्ददायक होती है—इसका अनुभव आचार्य महाप्रज्ञ जैसे सफल सचेतन कवि को ही हो सकता है। 'भक्त नहीं जाते कहीं, आते हैं भगवान्' की उक्ति सफल हुई तो, चन्दनबाला अपने पूर्व जीवन का स्मरण कर दुःख के दिनों को याद कर गद्‌गद हो गयी 'प्रभु आ गए' अब कुछ प्राप्तव्य शेष नहीं रहा।[14]

6. सुख-दुःख का द्वन्द्व—गीति-काव्य में आद्योपान्त सुख-दुःख का द्वन्द्व चलता रहता है। ऐसा इसलिए होता है कि कवि के व्यक्तिगत जीवन की अभिव्यक्ति ही गीति-काव्य का प्रधान तत्त्व होता है। कभी सुख और कभी दुः ख। यह सृष्टि का सार्वभौम विधान है। इसका काव्य में रसात्मक विनिवेशन ही गीति-काव्य का प्राण होता है। यक्ष अपनी प्रियतमा को आश्वासन देने के क्रम में सृष्टि के इस शाश्वत विधान का निरूपण करने लगता है—

नन्वात्मानं वहुविगणयन् आत्मनि एवावलम्बे-
तत्कल्याणि! त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम्।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा,
नीचैर्गच्छति उपरिचदशा चक्रनेमिक्रमेण॥[15]

वह कभी अनिष्ट से इष्ट की प्राप्ति होने पर आनन्द का पात्र बन जाता है—

इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशि भवन्ति॥[16]

× × ×

इष्टेऽनिष्टाद् व्रजति सहसा जायते तत्प्रकर्षो।
लब्ध्वाऽर्हन्तं प्रतिनिधिरिवाद्याऽऽवभौ सम्मदानाम्॥[17]

तो कभी सुख के बाद दुःख की प्राप्ति होने पर मूर्च्छा की भी सामना करनी पड़ती है। वहां केवल आंसू ही जीवनाङ्क होते हैं—

वाणी वक्त्रान्न च बहिरगाद् योजितौ नापि पाणी,
पाञ्चालीवाऽनुभवविकला न क्रियां काञ्चिदार्हत्।
सर्वैरङ्गैः सपदि युगपन्नीरवं स्तब्धताऽऽप्ता,
वाहोऽश्रूणामविरलमभूत् केवलं जीवनाङ्कः॥[18]

7. आशावाद—गीति-काव्य का कवि पूर्णतया आशावादी होता है। घोर विपत्ति में भी वह आशा-दीपक को थामकर जीवित रहता है, संसार को जीवित रहने की सीख भी देता है। आशा-वादिता की चिरन्तन चिनगारी विरहियों एवं विवद्ग्रस्तों की सहारा होती है और उन्हें अपने गन्तव्य तक पहुंचा देती है। वह चिनगारी स्वयं में प्रदीप्त होती है, बाह्यजगत् में उसका कोई सहारा नहीं होता। मेघदूत का 'नन्वात्मानं बहुविगणयन्' द्रष्टव्य है। अश्रुवीणा की चन्दना जब टूट गयी थी, उसे आश्वासन देने वाला कोई दूसरा न मिला। फिर अपनी कार्य-सिद्धि के लिए उसमें जोश उमड़ा और वह उसके लिए पूर्णतया प्रतिबद्ध हो गयी—

> मूर्च्छां प्राप्य क्षणमिह पुनर्लब्धचित्तोदयेव,
> दिक्षु भ्रान्ता दशसु करुणं साशयं सा निदध्यौ।
> नाश्वासाय व्यथितहृदया प्राप्तकञ्चिद् द्वितीयं,
> सद्यः सिद्धयै स्फुरित जवनाऽऽमन्त्र्य वाष्पावुवाच॥[19]

8. प्रभु या प्रियतम में चित्त की प्रतिष्ठापना—चित्त की एक संस्थान संस्थापना, गीतिकरण का प्रमुख तत्व होता है। जब तक कवि सर्वात्मना अपने प्रिय के चरणों में प्रतिष्ठित नहीं हो जाता तब तक गीतिकाव्य का प्रादुर्भाव नहीं होता। प्रियतम के साथ अखण्ड-चरण-चञ्चरीकता गीति-काव्य का आधार है। जब इन्द्रिय वृत्तियाँ संसार से उपरत होकर प्रभुमय बन जाती हैं, तब गीति-काव्य का प्रादुर्भाव होता है। सती-चंदना सर्वात्मना उसी के चरणों में अपने आप को स्थापित कर धन्य हो गयी। तभी तो अश्रुवीणा झंकृत हुई।

9. वेदनापूर्ण सिसकियाँ—ये गीति-काव्य में उद्भावन में समर्थ होती हैं। सिसकियों में, रूदन में, समस्त वातावरण को झकझोर देने की शक्ति होती है। यक्ष के अरण्य-रुदन से सम्पूर्ण रामगिरि पर्वत रो रहा है। करुणार्द्र हो वन देवियां भी आँसू गिरा रही हैं—

> मामाकाश प्रणिहित भुजां निर्दयाश्लेषहेतोः
>
> × × ×
>
> मुक्ता स्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति॥[20]

पार्वती का रुदन इतना विस्फारण और विकास को प्राप्त हो चुका है कि सम्पूर्ण जड़-चेतन प्राणी शिव-शिव करने लगे। सब कुछ शिव-मय बन गया—

उपात्तवर्णे चरिते पिनाकिनः सवाष्पकण्ठस्खलितैः पदैरियम्।
अनेकशः किन्नरराजकन्यका वनान्तसङ्गीतसखीररोदयत्॥[21]

वैसे ही चन्दना की सिसकियों से समस्त आकाश व्याप्त हो गया। महावीर जैसे सर्वस्व त्यागी पुरुष भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे।

ध्येयं सम्यक् क्वचिदपि न वा न्यून-सज्जा भवेत,
घोषाः पुष्टा बहुलतुमुलास्ते पुरश्चारिणः स्युः।
आकर्षेयुर्गमन-नियतं ये प्रभोर्ध्यानमत्र,
यन् मूकानां न खलु भुवने क्वापि लभ्या प्रतिष्ठा।[22]

10. आँसू का गीत-अश्रुवीणा आँसू का गीत है। प्राप्तव्य की प्राप्ति का श्रेष्ठ एवं सशक्त माध्यम आँसू हैं। बिना रोए प्रियतम मिलता कहां है? जिसने रोया उसी ने पाया। प्रियतम की शय्या उस टापू में स्थित है, जिसके चारों तरफ आँसुओं का समुद्र लहराता है। पार्वती ने आँसू के इस महासमुद्र को पारकर शिवजी को पाया। पार्वती की शिवध्वनि और अश्रुधारा ने सम्पूर्ण वन-प्रदेश को रुला दिया। यक्ष रोया। उसके रुदन से वन्य-प्रान्त भी रोने लगा। गजेन्द्र, कुन्ती, द्रौपदी, भीष्म, गोपियाँ आदि सब रोये। सूर, मीरा, तुकाराम, चैतन्य महाप्रभु आँसुओं की धारा पर बैठकर ही प्रभु के घर जा सके।

चन्दनबाला को भी प्रभु कैसे मिलते? जब तक उसकी निठोली आँखों से आँसू की तरंगिनी तरंगायीत नहीं हुई—प्रभु कहां मिले?

चाहे शकुन्तला-दुष्यन्त मिलन हो या भवभूति की सीता का रामगृह पुनरागमन।[23] सबने आँसू का ही सहारा लिया। आँसू जीवन के लिए महदुपकारक हैं। जब सब कोई साथ छोड़ देते हैं तब आँसू ही साथ होते हैं।[24] गोपियों की दशा भी कृष्ण के वियोग में कुछ ऐसी ही हो गयी थीं—

पादौ पदं न चलतस्तव तब पादमूलात्।
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥[25]

आँसू ही विपत्काल के मित्र हैं—

> सार्थञ्चैकोऽनुभवति विपद्भारमोक्षश्च युष्मा-
> ल्लब्ध्वा नान्यो भवति शरणं तत्र यूयं सहायाः ।।[26]

आँसू अमोघशक्ति सम्पन्न हैं। जिसे संसार की कोई शक्ति नहीं रोक सकती वे भी आंसू की धारा में बह जाते हैं। भक्तिमती चन्दना कहती है— हे आँसू! जिन्हें कोई रोक नहीं सकता वे भी तुम्हारे लघु-प्रवाह में सहसा डूब जाते हैं। तुम्हारे अन्दर में कोई अद्भुत शक्ति है इसे सब जानते हैं—

> चित्राशक्तिः सकलविदिता हन्त ! युष्मासु भाति,
> रोद्धं यान्नाक्षमत पृतना नापि कुन्ताग्रमुग्रम्।
> खातं गर्ता गहनगहनं पर्वतश्चापगाऽपि,
> मग्नाः सद्यो वहति विरलं तेऽपि युष्मत्प्रवाहे ।।[27]

आँसू हृदय को आर्द्र करते हैं और आर्द्र हृदय के सजीव भाव अनुलङ्घ्य होते हैं।

आँसू का हृदय के साथ पूर्ण योग होता है। हृदय ही आँसू के रूप में बहने लगता है। वह बहाव कितना सशक्त होता है उसे महाप्रज्ञ या महावीर जैसे व्यक्ति ही समझ सकते हैं।

11. दूत की कुलीनता एवं उसके सामर्थ्य पर विश्वास- प्रायः सभी गीति-काव्यों में दौत्यकार्य का निरूपण होता है। गीति-काव्य का पात्र विरह-वेदना के कारण साधारणीकरण की भूमिका में पहुँचकर चेतनाचेतन विभेद में प्रकृतिकृपण हो जाता है। वहां पशु जगत्, रात्रि, मेघ या आँसू आदि से दौत्य कार्य करवाया जाता है। वहां शङ्का का स्थान नहीं होता है। दूत की कुलीनता एवं उसके सामर्थ्य पर पूर्ण विश्वास होता है। महाकवि कालिदास का यक्ष मेघ को दूत बनाता है। उसका मेघ धूम, ज्योति-सलिल-मरुतादि का सन्निपात मात्र नहीं बल्कि वह इन्द्र का प्रधान-पुरुष है, प्राणियों का जीवनदाता है। उसका जन्म श्रेष्ठ पुष्करावर्त्त कुल में हुआ है। यक्ष को पूर्ण विश्वास है कि उसका दूत उसके सन्देश को उसकी प्रियतमा के पास ले जाएगा तथा प्रिया के कुशल-क्षेम के द्वारा प्रातः कुन्द-प्रसव के समान शिथिल यक्ष-जीवन को भी सहारा देगा।[28]

अश्रुवीणा की नायिका अपने आँसू को ही दूत बनाती है। आपात्काल में आँसू के अतिरिक्त उसके पास कुछ अवशेष था ही कहां? उसका दूत समर्थ है, पवित्र है। उसको पाकर अकेला व्यक्ति भी विपत्ति के भार से मुक्त हो जाता है। उसमें अद्भुत शक्ति है। वह अपने दूत से कहती है—हे आँसू! यह ठीक है कि यति-पति पवित्र है और पवित्रता में विश्वास करते हैं। तुम भी कम पवित्र नहीं हो। उस प्रभु को विश्वास दिलाना कि हमारा जन्म भी पवित्र स्रोत से हुआ है—

स्मर्तव्यं तद्यतिपतिरसौ पूतभावैकनिष्ठो,
नेयस्तस्मादृजुतमपथैः पावनोत्स प्रतीतिम्।
साहाय्यार्थं हृदयमखिलं सार्थमस्तु प्रयाणे,
तस्योदघाटः क्षणमपिचिरं कार्यपाते न चिन्त्यः॥[29]

कवि दौत्यकार्य मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर करवाता है। दूत के उच्चकुल का वर्णन कर उसके सामर्थ्य की ओर भी ध्यान आकृष्ट कराया जाता है। हनुमान को उनके सामर्थ्य की याद नहीं दिलायी जाती तो वे अलङ्घ्य समुद्र को कैसे लाँघ जाते? कालिदास का यक्ष और महाप्रज्ञ की चन्दनबाला भी इसी पद्धति का आश्रयण करती है।

12. **बिम्बात्मकता**—यह गीति-काव्य का प्रमुख वैशिष्ट्य है। कवि वर्णनीय विषय का अपनी कला के द्वारा स्पष्ट चित्र अंकित कर देता है। अश्रुवीणा में बिम्बात्मक-चारूता पद-पद में विद्यमान है। श्रद्धा और तर्क का बिम्ब द्रष्टव्य है—

अन्धा श्रद्धा स्पृशति च दृशं तर्क एषाऽनृता धीः,
श्रद्धाकाञ्चिद् भजति मृदुतां कर्कशत्वञ्च तर्कः।
श्रद्धा साक्षात् जगति मनुते कल्पितामिष्टमूर्ति,
तर्कः साक्षात् प्रियपिजनं दीक्षते संदिहानः॥

13. **छन्दोजन्य माधुर्य**—गीति-काव्य के लिए छंद-बद्धता आवश्यक मानी गयी है। 'चादयति आह्लादयतीति छंद' अर्थात् जो आह्लादित करे, उसे छंद कहते हैं। मधुरिम-छंदों में ही गीति-लताएँ लहलहाती हैं। मन्दा क्रान्ता, शिखारिणी, इन्दिरा आदि छन्द गीति-काव्य के लिए उपयुक्त माने गए हैं। विश्ववन्द्य कवि

कालिदास का मेघदूत मन्दाक्रान्ता छन्द में निबद्ध है। विवेच्य काव्य-ग्रन्थ का छंद भी मन्दाक्रान्ता ही है, जिसका लक्षण इस प्रकार है—

मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ ग युग्मम्।[32]

अर्थात् जिसके प्रत्येक चरण में मगण, भगण, तगण, नगण और अन्त में दो गुरु वर्ण होते हैं। चार, छः एवं सात वर्णों पर यति होती है। भावों की मञ्जुलता और कल्पना की कमनीयता आदि के लिए मन्दाक्रान्ता को सबसे अधिक उपयुक्त माना जाता है। अश्रुवीणा में भक्ति, श्रद्धा, समर्पण आदि भावों के चित्रण में मन्दाक्रान्ता का सफल प्रयोग हुआ है। उदाहरण द्रष्ट्व्य है—जिनकी आँखें पवित्र आँसू से प्रक्षालित हो गयी हैं उन्हीं की अन्तःकरण की सहज वृत्तियाँ दूसरे को जगा सकती हैं—

चक्षुर्युग्मं भवति सुभगैः क्षालितं यस्य वाष्पैः,
तस्यैवान्तःकरणसहजा वृत्तयः प्रेरयेयुः।
पल्याः कोष्णैः श्वसनपवनैरश्रुधाराभिषिक्तै-
र्धन्येनाऽहो भवजलनिधेर्दुस्तरं वारितीर्णम्।।[33]

14. काव्य गुणों का साम्राज्य— काव्य की आत्मा रस है और गुण आत्मभूतरस के उत्कर्षाधायक होते हैं। जैसे शौर्यादि गुण आत्म-शोभा-संवर्द्धक होते हैं उसी प्रकार काव्य-गुण रस रूपी आत्मा के विकास में सहायक होते हैं 'उत्कर्षहेतवस्ते स्यु रचलस्थितयो गुणाः।[34] माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन गुण प्रमुख हैं।[35] रसाभिभूत सामाजिकों के चित्त की तीन अवस्थाएँ होती हैं—द्रुति, विस्तार और विकास। द्रुति, विस्तार और विकास में क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद की स्थिति मानी जाती है।

द्रुति–श्रृंगार, करुण और शान्तरस में 'द्रुति' चित्तावस्था को स्वीकार किया गया है।[36] अश्रुवीणा में शान्तरस की प्रधानता है। भक्ति आद्योपान्त कलित है अतएव माधुर्य गुण की छटा स्वतः विद्यमान है। सामने आकर भी चन्दना के हृदयेश लौट गए। उसका आशा-महल ढह गया। वह पुत्तलिकावत् हो गई। आँसू मात्र से ही उसके जीवन की सूचना मिल रही थी।[37] आँसू, स्तब्धता, मूर्च्छा, विषाद, श्रद्धा एवं निर्वेदादि द्रुति के लक्षण हैं। अश्रु वीणा में ये सभी विद्यमान हैं।

विस्तार—वीर, रौद्र और वीभत्स रस में विस्तार (ओजगुण) की स्थिति स्वीकृत है,[38] भव्यता, महानता, उदात्तता आदि इसके गुण माने जाते हैं। अश्रुवीणा में यद्यपि रौद्र, वीभत्सादि रसों का सर्वथा अभाव है लेकिन उदात्त, भव्य आदि गुण तो विद्यमान हैं ही। उपास्य के माहात्म्य का ज्ञान, उसकी महनीयता का आभास भक्ति का मूल है, अन्यथा प्रेम जारवत् हो जाता है। ऋषि नारद के शब्द प्रामाण्य हैं—तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः। तद्विहीनं जाराणामिव।[39] अश्रुवीणा की नायिका को दैन्यावस्था में भी अपने प्रभु की महनीयता एवं उदात्तता का ज्ञान है। वह आँसू से कहती है—हे आँसू ! उस प्रभु को कोई सेना नहीं रोक सकती है। वह सबसे शक्तिमान् है। वह यति-पति पवित्रता में विश्वास करता है। अन्तर्वेदी तथा प्रकरण पटु है। वह पवित्र महर्षि आलोक की आधार-भूमि है।[40] यह प्रसंग चित्त विस्तार में समर्थ है। अतएव भव्य और उदात्त की उपस्थिति होने से यहां ओज गुण की स्थिति मानी जा सकती है।

विकास—चित्त-विकास प्रसाद गुण का मूल है। आनन्द वर्धन के अनुसार प्रसाद गुण सभी रसों में पाया जाता है—'स प्रसादो गुणोज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः।'[41] मम्मट ने कहा है कि सूखे ईंधन में अग्नि और धुले वस्त्र में स्वच्छ जल के समान जो सहसा चित्त में व्याप्त हो जाए, वह सभी रचनाओं एवं रसों में रहने वाला प्रसाद गुण है।[42] आचार्य भरत ने स्वच्छता, सहजता, सरलता आदि को प्रसाद गुण के प्रधान तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है।[43] ये तत्त्व चित्त-विकास में सहायक होते हैं। चन्दनबाला की स्वच्छता एवं सहजता तथा महावीर की पवित्रता आदि को सुगंधि अश्रुवीणा में सर्वत्र व्याप्त है। स्वच्छता का दृश्य द्रष्टव्य है —

आलोकाग्रे वसतिममलामाश्रयध्वेऽपि यूय-
मालोकानामधिकरणभूरेषः पुण्यो महर्षिः।[44]

15. वैदर्भी का सौन्दर्य — गीति-काव्य के लिए वैदर्भी रीति सबसे उपयुक्त मानी जाती है। कालिदास के मेघदूत एवं जयदेव के गीत-गोविन्द में वैदर्भी का एकाधिपत्य है। वैदर्भी में माधुर्यगुण व्यंजक वर्ण, ललित पद एवं अल्प समास या समासाभाव होता है।[45] अश्रुवीणा के प्रत्येक पद्य में वैदर्भी का ललित-सौन्दर्य विद्यमान है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है। भक्ति के उद्रेक से चन्दना की स्थिति का वर्णन —

भक्त्युद्रेकात् स्मृतिमपि तनुं नाप्यकार्षीत् क्षुधाया,
वाञ्छापूर्त्यै सघनमनसा स्थैर्यमालम्भि तस्याः।
सन्देहेनाऽनुपलमुदयं गच्छताऽमूच्छ्ल्था वाक्,
सर्वेसूक्ष्माः परमगुरुताऽभूत् प्रतीक्षा–क्षणानाम् ॥[46]

प्रतीक्षा के क्षण कितने कष्टकर होते हैं। यह सर्वविदित है।

16. सूक्ति-सौन्दर्य—अन्य काव्य–विधाओं की अपेक्षा गीति–काव्य में सूक्तियों का अधिक विनियोजन होता है। जब कवि भावना, कल्पना एवं संगीत के माध्यम से आत्माभिव्यंजना में संलग्न हो जाता है तब सूक्तियों का उद्भावन अपने आप होने लगता है। इसके लिए कवि अलग से कोई आयास नहीं करता बल्कि उसका व्यक्तिगत अनुभव ही शब्दों के माध्यम से स्फारणता को प्राप्त करता है। अश्रुवीणा का प्रत्येक पद्य उत्कृष्ट–सूक्ति का निदर्शन है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

1. श्रद्धा–स्वादो न खलु रसितो हारितं तेन जन्म ।।4 ॥
   जिसने श्रद्धा का स्वाद नहीं चखा उसका जन्म वृथा है।
2. श्रद्धा–पात्रं भवति विरलस्तेन कश्चित्तपस्वी ॥5 ॥
   श्रद्धा का उपयुक्त पात्र कोई विरला साधक ही होता है।
3. भक्त्युद्रेकाद् द्रवति हृदयं द्रावयेत्तन्न कं कम् ॥7 ॥
   भक्ति के उद्रेक से भक्त का हृदय पिघल जाता है और दूसरे के हृदय को भी आर्द्र कर देता है।
4. आशास्थानं त्वमसि भगवन्! स्त्री जनानामपूर्वम् ॥14 ॥
   स्त्रियों (अशरण जीवों) के लिए भगवान् ही एकमात्र आशास्थान होते हैं।
5. प्रत्यासत्त्या भवति निखिलाऽभीष्टसिद्धेर्निमितम् ।।15 ॥
   निकट में की गई महापुरुषों की उपासना इष्टसिद्धि का निमित्त बनती है, भले वह कैसे ही की जाए।
6. अन्तःसाराः सहजसरसा यच्च पश्यन्ति गूढा–
   नन्तर्भावान् सरसमरसं जातु नो वस्तु जातम् ।16 ।।
   जो व्यक्ति स्वभाव से सरस तथा आत्मा में ही सारभूत तत्त्वों का अनुभव करने वाले होते हैं वे दूसरों के गूढ़ अन्तर्भावों को महत्त्व देते हैं। सरस–नीरस बाह्य पदार्थों का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं होता है।

7. इष्टेऽनिष्टाद् व्रजति सहसा जायते तत्प्रकर्षो ॥17॥
   जब व्यक्ति अनिष्ट से सहसा इष्ट को प्राप्त करता है तो उसे अपूर्व हर्ष का अनुभव होता है।

8. कार्यारम्भे फलवति पलं न प्रमादो विधेयः,
   सिद्धिर्वन्ध्या भवति नियतं यद् विधेयश्लथानाम् ॥27॥
   कार्यारम्भ में प्रमाद करना ठीक नहीं होता है क्योंकि जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्य में जागरूक नहीं होते उन्हें सफलता नहीं मिलती है।

9. यद् दुर्भेद्यष्तिमिरनिचयो नास्ति तादृक् त्रिलोक्याम् ॥28॥
   चाटुकार जैसा कोई दूसरा दुर्भेद्य निविड़ अन्धकार तीन लोक में भी नहीं होता है।

10. त्राणं यस्मात् भवति न च भूःक्षीणमूलान्वयानाम् ।।30॥
    जिनकी वंश परम्परा विलुप्त हो चुकी है उन्हें पृथ्वी भी त्राण नहीं दे सकती है।

11. यन् मूकानां न खलु भुवने क्वापि लभ्या प्रतिष्ठा।।31॥
    मूक–जनों को संसार में प्रतिष्ठा नहीं मिलती है।

12. कश्चिच्चित्रो भवति भुवने यन्महात्म–प्रभावः ॥35॥
    संसार में महात्माओं का अद्‌भुत् प्रभाव होता है।

13. सोत्साहास्तं परमपरतो योगमाप्त्वा तरन्ति।।36॥
    उत्साही व्यक्ति दूसरों का पर्याप्त सहयोग पाकर सभी बाधाओं को पार कर जाते हैं।

14. प्रारब्धव्यो लघुरथ गुरूर्वा विधिः संविमृश्य ॥39॥
    कार्य छोटा हो या बड़ा, उसका प्रारम्भ विचारपूर्वक ही होना चाहिए।

15. यन्नोपेक्ष्या ध्रुवमतिथयः सङ्गमार्थाः प्रबुद्धैः ॥40॥
    प्रबुद्ध व्यक्ति मिलने के लिए आए हुए अतिथियों की उपेक्षा नहीं करते।

16. चिन्तापूर्वं कृतपरिचया एव सख्यं वरेहन् ॥41॥
    सोच–विचार कर मैत्री करने वाले ही उसका निर्वाह कर पाते हैं।

17. नासंभाव्यं किमपि हि भवेद् पूतवंशोदयानाम्।।50॥
    पवित्रता में जन्म पाने वालों के लिए कोई कार्य असम्भव नहीं होता है।

इस प्रकार "अश्रुवीणा" एक श्रेष्ठ गीति–काव्य है।

पाद-टिप्पण

१. गीत-गोविन्द ३.१
२. शिशुपालवध महाकाव्य ४/१७
३. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका खण्ड १२, पृ. १८१
४. तत्रैव खण्ड १२, पृ. १८१
५. अश्रुवीणा १
६. तत्रैव ४
७. मेघदूत २/२१
८. अश्रुवीणा ५
९. तत्रैव २५
१०. तत्रैव ४६
११. मेघदूत
१२. अश्रुवीणा १८
१३. तत्रैव ६३
१४. तत्रैव ५६, ५७
१५. मेघदूत—उत्तर० ४६
१६. तत्रैव—उत्तर० ४९
१७. अश्रुवीणा १७
१८. तत्रैव २१
१९. तत्रैव २२
२०. मेघदूत—उत्तर० ४३
२१. कुमारसम्भव ५.५६
२२. अश्रुवीणा ३१
२३. उत्तरराम चरित-तृतीय अंक
२४. अश्रुवीणा २१
२५. भगवत महापुराण १०/२९/३४
२६. अश्रुवीणा २३
२७. तत्रैव २४
२८. मेघदूत
२९. अश्रुवीणा २६
३०. तत्रैव ७३
३१. तुलसी प्रज्ञा खण्ड १८, अंक १, पृ० ४१-४९
३२. छन्दोमञ्जरी, पृ० ८७
३३. अश्रुवीणा ८४
३४. काव्य प्रकाश ८.८७
३५. तत्रैव ८.८९
३६. काव्य प्रकाश पर वामन झलकीकर टीका, पृ० ४७४
३७. अश्रुवीणा २१
३८. काव्य प्रकाश, वामन झलकीकर टीका, पृ० ४७४
३९. नारदभक्तिसूत्र (प्रेमदर्शन) २२, २३
४०. अश्रुवीणा २६-२८
४१. ध्वन्यालोक २.१०
४२. काव्यप्रकाश ८.७०-७१
४३. नाट्यशास्त्र १७.९८
४४. अश्रुवीणा २८
४५. साहित्य दर्पण ९.२
४६. अश्रुवीणा ८७

अश्रुवीणा में श्रद्धा का स्वरूप

खण्ड काव्य किंवा गीति काव्य की महनीय परम्परा में अधिष्ठित सौन्दर्य की सुभग प्रस्रविनी का नाम है 'अश्रुवीणा'। यह समाराध्य विनोदिनी उस महाकवि की संरचना है जिसने तपस्या, साधना और ध्यान के द्वारा रूप से स्वरूप को, अनित्य से नित्य को और खण्डता से अखण्डता को प्राप्त कर लिया है, जिसका सम्पूर्ण जीवन सुन्दरता का अशोष्य आकर बन चुका है, जो केवल शिवरूप अथवा मंगलाभिधान से शेष है, समता की आराधना करते-करते स्वयं समता-मय हो गया है, दुधमुँहे बच्चे से कदम बढ़ाते-बढ़ाते ऋत और सत्य के निकेतन में पहुंच चुका है, वह स्वनामधन्य मुनि श्री नथमलजी, सम्प्रति आचार्य महाप्रज्ञ के सार्थक अभिधान से विभूषित हैं।

''अश्रुवीणा'' सांसारिक दुःखों से व्यथिता बाला की कारुणिक कहानी है जिसके सारे परिजन-पुरजन अकाल-तिरोहित हो गए हैं, जो कामुकों की कामाग्नि से झुलसते-झुलसते बचकर संशयग्रस्ता सेठानी की ईर्ष्याग्नि में दग्ध हो चुकी है। उसके पास मात्र एक ही पात्र शेष है जिसके सहारे जीवन धारण कर रही है—वह है श्रद्धा। संसार के सारभूत एवं अनन्त विस्तृत कर्म बन्धन सागर संतरण समर्थ एक मात्र नौका है—'श्रद्धा', जो 'अश्रुवीणा' में आद्यन्त विद्यमान है। उसी के सौन्दर्य-संधारण किंवा रूप संधारण का किंचित् प्रयास किया जा रहा है।

'श्रुत्+धा' पूर्वक 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्[1] 'से अङ् और 'टाप्' प्रत्यय करने पर 'श्रद्धा' शब्द निष्पन्न होता है।' श्रद्धानमिति श्रद्धा'। वाल्मिकी रामायण[2] में स्पृहा, लालसा, विश्वास अर्थ में प्रयुक्त है। अमरकोश में विश्वास और स्पृहा को श्रद्धा कहा गया है।[3] मनुस्मृति के अनुसार शास्त्रों, धर्मकार्यों में आप्तवचन में दृढ़ प्रत्यय को श्रद्धा कहते हैं।[4] गीता में श्रद्धा का विस्तृत विवेचन किया गया है।

जैन वाङ्मय में श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय तीनों पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।[5] 'तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा[6]' अर्थात् तत्त्वार्थों के विषय में उन्मुख बुद्धि को श्रद्धा कहते हैं। जहाँ पर श्रद्धा होती है वहीं पर चित्त लीन होता है। जिनेन्द्र स्वामी प्रवाचित उपदेशों में सम्यक् निष्ठा श्रद्धा है।

उपास्य में पूर्ण विश्वास, उसके गुणों के प्रति पूर्ण आस्था श्रद्धा है। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक अलैग्जेंडरवेन ने श्रद्धा के लिए दो शब्दों Admiration and Esteem का प्रयोग कर उन्हें परिभाषित किया है:—

Admiration is the response to pleasurable feeling aroused by Excellence or Superiority, a feeling closely allied to Love.[7] Esteem refers to the performance of essential duties, whose neglect is attended with evil,[8]

आचार्य शुक्ल के शब्दों में—किसी मनुष्य में जनसाधारण से विशेष गुण एवं शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द-पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं।[9] श्रद्धास्पद के प्रति पूर्ण समर्थन का नाम है श्रद्धा। श्रद्धा एक हृदय की भावना है जो पूज्य के साथ अनन्यथा सिद्ध है।

यह अमृत-स्वरूपा है जिसको पाकर व्यक्ति पूर्ण, तृप्त एवं आत्माराम हो जाता है। श्रद्धा का उदय होते ही सम्पूर्ण सांसारिक इच्छाओं का शमन हो जाता है। श्रद्धास्पद को छोड़कर व्यक्ति एक क्षण भी अन्यत्र नहीं जाना चाहता है।

यह अहसास जीवों का एकमात्र सहायक है। जब संसार के सम्पूर्ण स्वजन-परिजन अपने-अपने दरवाजे बन्द कर लेते हैं तब श्रद्धा ही समर्थ-नौका बनती है जो आगत आपद्-समुद्र से शीघ्र ही उबार लेती है। जिसके पास भौतिक सम्पदाओं का पूर्ण निरसन हो जाता है तब श्रद्धा ही एकमात्र अवशिष्ट रहती है।[10]

जिसके मन का रूखापन समाप्त हो गया है, दंभ, गर्व, रागादि नाममात्र शेष नहीं हैं, जो दुधमुँहे बच्चे के समान हैं, भोले हैं, अज्ञ हैं या जिनका मन तर्क की परिणाम विरसता से ऊब गया है उन्हीं के हृदयाकाश में श्रद्धा का उदय होता है।

श्रद्धे! मुग्धान् प्रणयसि शिशून् दुग्ध-दिग्धास्यदन्तान्,
भद्रानज्ञान् वचसि निरतांस्तर्कवागैरदिग्धान्॥[11]

इसी प्रकार पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने भी श्रद्धा-उदय के लिए आत्म-निषेध या हीनता की भावना को आवश्यक माना है। मैग्डूगल के अनुसार आत्महीनता की भावना श्रद्धा के लिए अनिवार्य है। अत्यधिक आत्म-विश्वासी, आत्म-तुष्ट और अहंकारी व्यक्ति श्रद्धालु नहीं हो सकता। अहं का विसर्जन और उदारता सच्ची श्रद्धा के लिए आवश्यक है।[12] आचार्य शुक्ल ने भी इसी तरह का अभिमत प्रकट किया है—''जिनकी स्वार्थ-बद्ध दृष्टि अपने से आगे नहीं जा सकी, वे श्रद्धा जैसे पवित्र भाव की धारणा नहीं कर सकते हैं। स्वार्थियों और अभिमानियों के हृदय में श्रद्धा क्षण मात्र भी नहीं रुक सकती''।[13] चन्दनबाला का हृदय पूर्णतः पवित्र हो चुका है। वह स्वार्थ की सीमा लाँघ कर असीम में अधिष्ठित हो गयी है। या यों कह सकते हैं कि उसका स्वार्थ इतना विकसित हो गया कि वह परमार्थ रूप प्रतिष्ठित हो गया है।

श्रद्धा का पूर्ण आधार विश्वास है। जब तक जीवमात्र के हृदय में श्रद्धास्पद के गुणों पर पूर्ण निष्ठा नहीं बन जाती, 'यह मेरे अभीप्सित को पूर्ण करने या संसार-सागर से पाप उतारने में समर्थ है'— इस तरह की भावना जब तक बलवती नहीं होती तब तक श्रद्धा का उदय नहीं होता है।

इसमें पूर्ण समर्पण की भावना होती है। दुःख में, दारिद्र्य में, विपत्ति में भक्त भगवान् के पादचरणों में अपना सब कुछ समर्पित कर दुःख सागर से सद्यः मुक्त हो जाता है।

भारतीय वाङ्मय—(वैदिक-जैन-बौद्ध) में अनेक कथाएँ हैं जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि भवसागर संतारक पर पूर्ण विश्वस्त होकर जीव अनायास ही दुःख से मुक्त हो जाते हैं। चन्दनबाला पूर्ण विश्वस्त है अपने श्रद्धास्पद के प्रति, उनके गुणों के प्रति कि ''वे अवश्य मुझे पार उतारेंगे। वे असंख्य जीवों के संतारक हैं, इसमें उस बाला के हृदय में तनिक भी ननुनच नहीं है। महाभारत की द्रौपदी, भागवत के गजेन्द्र आदि इसके अनन्यतम उदाहरण हैं।

श्रद्धा और तर्क में कोई सम्बन्ध नहीं है। श्रद्धा में पूर्ण समर्पण एवं आत्मनिषेध निहित रहता है लेकिन तर्क में इसका सर्वथा अभाव है। श्रद्धा का

उदय स्थान सुकुमार प्रदेश हृदय में होने से वह स्वयं सुकुमारी है लेकिन तर्क कर्कश। श्रद्धा पूर्ण विश्वास का नाम है तो तर्क प्राप्त पर भी सन्देह का अभिधान है। श्रद्धा में यह विशेषता है कि वह कल्पना द्वारा बनायी हुई अपने श्रद्धेय की मूर्ति को साक्षात् मान लेती है, जबकि तर्क साक्षात् दिखने वाले श्रद्धेय पुरुष को भी सन्देह भरी दृष्टि से देखता है।[14] श्रद्धा मनुष्य के अन्तरतम में प्रविष्ट रहती है लेकिन तर्क बुद्धि से आगे बढ़ता ही नहीं। श्रद्धा-संवलित और तर्क से विरहित व्यक्ति ही आत्म-तत्त्व को प्राप्त कर सकता है।

श्रद्धा और भक्ति में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि दोनों एक ही हैं। वास्तविकता भी यही है। जब तक उपास्य के गुणों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो, तब तक भक्ति अधूरी रहती है और जब तक भक्ति पूर्ण न हो तो श्रद्धा की कल्पना ही व्यर्थ है।

श्रद्धा अंधी नहीं होती है। उसमें ज्ञान का भी योग रहता है। प्राप्तव्य के माहात्म्य-गौरव एवं श्रेष्ठता को जाने बिना उसके प्रति श्रद्धा हो ही नहीं सकती। नारद ऋषि के शब्दों में—'माहात्म्य-ज्ञानमपि सा'[15] अर्थात् श्रद्धा में या भक्ति में श्रद्धास्पद का माहात्म्य बोध भी भक्त हृदय में पूर्णतया निष्ठित रहता है।

श्रद्धा में अदम्य शक्ति है। बड़े-बड़े महापुरुष भी उसके वशवर्ती हो जाते हैं। यह अमोध अस्त्र है। देव, पितर, मनुष्यादि सभी को इस अस्त्र से सरलता से वशीभूत किया जा सकता है। सर्वतन्त्र भगवान् महावीर भी इसके बन्धन में बँध जाते हैं। श्रद्धा की गंगा में सती चन्दनबाला निमज्जित होकर धन्य-धन्य हो गयी। अप्राप्य वस्तु को प्राप्त कर सहसा उसे विश्वास ही नहीं होता। आज उसका जीवन सफल हो गया। जन्म-जन्मान्तर के अभीप्सित आराध्य उसकी श्रद्धा की शैय्या पर आसन जमा चुके थे:—

"देवः साक्षात् विहरति पुरः पावनो मां पुनानः॥[16]

श्रद्धा आनन्द की निष्यन्दिनी है। श्रद्धा की उत्पत्ति होते ही हृदय में आनन्द-भावना तरंगायित होने लगती है। वाणी गद्गद और शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। संसार के सम्पूर्ण दुःख-सुख, राग-द्वेष आदि तिरोहित होकर केवल आनन्द ही शेष रह जाता है। इसमें द्वैत का सर्वथा अभाव हो जाता है। सम्पूर्ण जीव-जगत् 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' की भावना में प्रतिष्ठित हो जाता है।

यह मोक्षमार्ग की साधिका है। जब तक पूर्ण श्रद्धा का उपचय नहीं होता, तब तक संसार में किसी भी श्रेष्ठ पदार्थ की प्राप्ति संभव नहीं है। गीता में गोविन्द की उक्ति है:—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥[17]

इस प्रकार अश्रुवीणा में श्रद्धा का चित्रण अत्यन्त रमणीय है। विशेष के लिए प्रथम श्लोक की व्याख्या देखें।

पाद-टिप्पण

१. पाणिनि—अष्टाध्यायी ३/३/१०४
२. वाल्मीकिरामायण, २/३८/२
३. अमरकोश, ३/३/१०२ श्रद्धा सम्प्रत्ययः स्पृहाः
४. वाचस्पत्यम् पृ० ५/४९
५. धवला १/१, १, ११, ११६/७
६. पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, श्लोक संख्या ४१२
७. Mental and Moral Science, Page 247
८. तत्रैव, पृ० २४८
९. चिंतामणि भाग, पृ० १७
१०. अश्रुवीणा–श्लोक संख्या १३
११. तत्रैव "१
१२. सोशल सायकोलॉजी, पृ० १११
१३. चिन्तामणि भाग 1 पृ० २१/२२
१४. अश्रुवीणा–श्लोक संख्या ७४
१५. नारद–भक्ति सूत्र
१६. अश्रुवीणा ५४
१७. श्रीमद्भगवद्गीता ३/३१

कृतज्ञता ज्ञापन

अश्रुवीणा एक श्रेष्ठ ऋषि एवं क्रान्तकवि की अमर रचना है। इसका एक-एक पद महान् अर्थ को संगोपित किए हुए है। इसकी व्याख्या, इसके पदों के हार्द को जानना मेरे वश की नहीं है। 14.7.98 को लगभग 2.30 बजे सरदारशहर में पूज्य अनुशास्ता एवं प्रस्तुत ग्रंथ के कवि आचार्यश्री महाप्रज्ञ का अवितथ आशीर्वाद मिला—"सारा कार्य छोड़कर अश्रुवीणा वाला कार्य पूरा करो, जिससे कि नवम्बर में होने वाली संगोष्ठी में इसे विद्वानों को उपलब्ध कराया जा सके।" यहीं आशीर्वाद इस कार्य में सहयोगी बना, मुझे सामर्थ्यवान् बना दिया।

पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी (अदेही रूप) का आशीर्वचन और चिन्मय रूप इस यात्रा में सहायक बना। शब्द और अर्थ दोनों आदरणीय आचार्य महाप्रज्ञ के हैं, उन्हीं को समर्पित। पूज्या साध्वी प्रमुखा, युवाचार्य श्री एवं अन्य चारित्रात्माओं की शुभाशंसा मुझे पाथेय के रूप में प्राप्त है।

पूज्य पिता डा. श्री शिवदत्त पाण्डेय भैया-श्रीहरिहर पाण्डेय अनुजवर्ग—रामाशंकर, सच्चितानन्द आदि सबका आशीष एवं सहयोग मुझे प्राप्त है। स्वर्गगता माता—देवसुन्दरी एवं चाचा हरक्षण शब्द, अर्थ और शक्ति तीनों का सम्प्रेषण करते रहते हैं—उनको प्रणाम। केवल प्रणाम। पूज्य जीजाजी श्री गोपालकृष्ण उपाध्याय का अनाविल-स्नेह एवं उनकी निरभिलाष-कर्म कुशलता ने मुझे सशक्त और उत्साहवान् बनाया है। गुरु पूज्य प्रो.डा. राय अश्विनी कुमार का मार्गदर्शन अहर्निश प्राप्त है। आदरणीय गुरु डा. लक्ष्मीनारायण चौबे ने दिग्मूढ़ चेतना को स्फूर्त किया है। इसमें जो कुछ भी गुणवत्ता है—सब गुरुओं का है और दोष मेरे हैं। छात्र, शिक्षक एवं सुधी पाठकों का यत्किञ्चित् भी उपकार होगा तो मेरी कृतार्थता हो जाएगी।

दीपावली, 1998
लाडनूं

गुरु पादानुचर
हरिशंकर पाण्डेय

(१)

श्रद्धे! मुग्धान् प्रणयसि शिशून् दुग्ध-दिग्धास्यदन्तान्,
भद्रानज्ञान् वचसि निरतांस्तर्कबाणैरदिग्धान्।
विज्ञांश्चापि व्यथितमनसस्तर्कलब्धावसादा-
त्तर्केणाऽमा न खलु विदितस्तेऽनवस्थानहेतुः॥

अन्वय — श्रद्धे! दुग्धदिग्धास्यदन्तान् मुग्धान् भद्रान् अज्ञान् वचसि निरतान् तर्कबाणैरदिग्धान् शिशुन् प्रणयसि। तर्कलब्धावसादात् व्यथितमनसः विज्ञांश्चापि (प्रणयसि)। तर्केण अमा ते अनवस्थान हेतुः न विदितः।

अनुवाद — हे श्रद्धे! जिनके मुख और दाँत दुग्ध से सने हुए हैं (जो दुधमुँहे हैं), जो मुग्ध, भद्र, अज्ञ, वाणी पर सहज विश्वास करने वाले तथा तर्क के बाणों से असंपृक्त हैं, वैसे बच्चों से तुम प्रेम करती हो (उनका आलिङ्गन करती हो।) (अथवा) जो तर्क के बाणों से (परिणाम विरसता को जानकर) दुःखी होकर खिन्न मनवाले हो चुके हैं (ऊब गए हैं) वैसे विद्वान् पुरुषों से भी प्रेम करती हो। (परन्तु), तर्क के साथ तुम्हारा मेल नहीं बैठता है - इसका कारण ज्ञात नहीं है।

व्याख्या — तेरा पंथ धर्मसंघ के दशम आचार्य श्री महाप्रज्ञ की यह रचना है। प्रथम श्लोक में श्रद्धा की व्याख्या की गई है।

श्रद्धे!-श्रद्धा शब्द का सम्बोधन एक वचन में प्रयोग हुआ है। श्रत् (उपसर्ग या उपपद) पूर्वक जुहोत्यादिगणीय डुधाञ् (धाञ्) धारणपोषणयोः धातु से अङ् (अ) और टाप् (आ) प्रत्यय करने पर श्रद्धा शब्द बनता है। श्रत् को अव्यय एवं सत्य का वाचक माना गया है।

वैदिक निघण्टु में श्रत् को सत्य का वाचक या पर्याय के रूप में स्वीकार किया गया है। वहाँ पर ऋत और सत्य के छः नामों में श्रत् शब्द को संगृहीत किया गया है -

बट् श्रत् सत्रा अद्धा इत्था ऋतमिति सत्यस्य षट्नामानि - *निघण्टु* 3.10

जो सत्य को धारण करे या जो सत्य पर आधारित हो उसको श्रद्धा कहते हैं। निरुक्तकार यास्क ने लिखा — श्रद्धा श्रद्धानात्। तस्या एषा भवति' (*निरुक्त* 9.30) अर्थात् सत्य (श्रत्) पर आधारित होने के कारण श्रद्धा श्रद्धा कहलाती है) निरुक्त के टीकाकार दुर्ग का अभिमत है कि श्रद्धा वह आन्तरिक भाव है, जिसको कोई धार्मिक या धर्मनिरपेक्ष (अर्थ, काम) तथा आध्यात्मिक विषयों (मोक्ष) के प्रति ग्रहण करता है तथा जिसमें कोई परिवर्तन नहीं आता है। अमरकोशकार ने संप्रत्यय (विश्वास, आदर) और स्पृहा के अर्थ में श्रद्धा को स्वीकार किया है —

श्रद्धा संप्रत्ययः स्पृहा (*अमर.* 3.3.102)। मेदिनी में आदर और कांक्षा अर्थ माना गया है – 'श्रद्धाऽदरे च कांक्षायाम् (मे. 80.19)। आधुनिक कोशकारों ने श्रद्धा को आस्था, निष्ठा, विश्वास, भरोसा, दैवी सन्देशों में विश्वास, धार्मिक निष्ठा', मन की स्वस्थता, शान्ति, घनिष्ठता, परिचय, आदर, सम्मान, प्रबल या उत्कट इच्छा आदि अर्थों का वाचक माना है। गुरु और वेदान्त (आप्तवाणी) वाक्यों में विश्वास श्रद्धा है (वेदान्तसार)। धर्म कार्य में विश्वास श्रद्धा है – प्रत्ययो धर्म कार्येषु तथा श्रद्धेत्युदाहृता।

श्रद्धा के महत्व को सबने स्वीकार किया है। उपनिषदों में इसे हृदय, माता यजमानपत्नी आदि श्रेष्ठ विशेषणों से अभिहित किया गया है। श्रद्धा हृदय इति होवाच – बृहदारण्यक। श्रद्धा पत्नी – *महानारायणीयोपनिषद्* 18.1

इसमें देवों का अधिवास होता है तथा यह देवों की रानी है। इसलिए यह सारा संसार श्रद्धामय ही है – श्रद्धा देवानधिवस्ते श्रद्धा विश्वमिदं जगत्। तैत्तरीय ब्राह्मण 2.8.8

श्रद्धा से ही ब्रह्मतेज प्रज्वलित होता है —

श्रद्धायाग्निः समिध्यते। *ऋग्वेद* 10.151.1 श्रद्धा से सत्य मिलता है– श्रद्धया सत्यमाप्यते। *यजुर्वेद* 19.30 श्रद्धावान् ही ज्ञान का पात्र होता है–

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्, *गीता* 4.39। इसी महनीयता को दृष्टि में रखकर आचार्य महाप्रज्ञ ने घोषित किया है —

श्रद्धास्वादो न खलु रसितो हारितं तेन जन्म

दुग्धदिग्धास्यदन्तान् – दुग्ध के द्वारा जिनके अभी भी मुख और दाँत सिक्त हैं। यह पद 'शिशून्' का विशेषण है। द्वितीया बहुवचन का रूप है। जो दूधमुँहे बच्चे होते हैं वे सांसारिक प्रपंच से सर्वथा विरत रहते हैं। श्रद्धा उन्हीं का वरण करती है।

दुग्धेन – गो अथवा माता के दुग्ध से।

दुग्धं क्षीरं पयः – अमरकोश 2.9.51

दुग्धं क्षीरे पूरिते च – हेमचन्द्र 2.245

दुह् + क्त प्रत्यय नपुंसकलिंग।

दिग्ध – दिह् + क्त। सना हुआ, लिपा हुआ।

कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में लिखा है –

दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या

गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः–मालविकाग्नि मित्र 1/29

आस्य = मुख, अस गति दीप्त्यादानेषु भ्वादिगणीय धातु से ण्यत् प्रत्यय से आस्य बनता है। आस्य शब्द ऐसे मुख का वाचक या बिम्ब प्रस्तुत कर रहा है जो चंचल, दीप्तिमान और तेज सम्पन्न हो। बालक के मुख की निसर्गता एवं रमणीयता को द्योतित करने के लिए 'आस्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। '*आस्य*' शब्द से जिस उत्तम अवस्था की अभिव्यक्ति हो रही है वैसी अभिव्यक्ति मुख, आनन, वदन आदि पर्याय शब्दों से संभव नहीं है। पयार्यवक्रता का श्रेष्ठ उदाहरण है। कवि की महानता उद्घाटित हो रही है। वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम् — *अमरकोष* 2.6.89।

आस्यन्दते अम्लादिना प्रस्रवति। आस्यन्दते वान्नादिना द्रवीक्रियते। अर्थात् आपूर्वक स्यन्दू प्रस्रवणे धातु से डप्रत्यय के योग से आस्य बना है। असु क्षेपणे से भी आस्य शब्द बन सकता है –अस्यन्ते वर्णायेन अस्यते। वाऽस्मिन् ग्रासः। कृत्यल्युहो बहुलम् (*अष्टाध्यायी* 3.3.113) से ण्यत् प्रत्यय हुआ है।

मुग्धान् — यह शिशून् का विशेषण है। सहज, सरल, भोला–भाला भवभूति ने भोलेपन को द्योतित करने के लिए उत्तर रामचरित में मुग्ध शब्द का प्रयोग

किया है - 1.46 कालिदास ने भोलीभाली तपस्वी कन्याओं के लिए लिखा है - मुग्धासु तपस्विकन्यासु - *शकुन्तला* 1.25।

भद्रान् — भद्र का अर्थ है - भला, सुखद, अनुकूल, मंगलप्रद, कृपालु, सुहावना आदि। यह 'शिशून्' का विशेषण है जो बच्चों में विद्यमान गुणों का उद्घाटन कर रहा है।

भद्रं कल्याणं मंगलं शुभम् - *अमरकोश* - 1.4.25 भदि कल्याणे धातु से (भ्वादिगणीय, आत्मनेपद) ऋज्रेन्द्राग्रवज्रवि विप्रकुब्रचुब्र क्षुर खुर भद्र. (उणादि सूत्र संख्या 196) से रन् के निपातन से भद्र बनता है। इस पद से शिशुओं में भद्रता कल्याणकारी, द्वेषरहितता आदि गुणों का द्योतन हो रहा है।

अज्ञान् — अज्ञ शब्द का द्वितीया बहुवचनान्त प्रयोग। ज्ञानरहितान् अनुभवविहीनान्। शिशून् का विशेषण। यहाँ अज्ञ शब्द से सांसारिक प्रपंच के ज्ञान का अभाव अभिव्यंजित है। जो सांसारिक प्रपंचों के ज्ञान से रहित हैं। *मनुस्मृति* 2.152 में बाल को अज्ञ कहा गया है - अज्ञो भवति वै बालः। भतृहरि ने अजान, अनसमझ के अर्थ में अज्ञ शब्द का प्रयोग किया है - अज्ञः सुखमाराध्यः *नीतिशतक* - 20।

वचसि निरतान् — वाणी पर विश्वास करने वाले। निरत शब्द भक्त, आसक्त, अनुरक्त, संलग्न आदि अर्थों का वाचक है। जो सहज रूप से किसी की वाणी में ननुनच (तर्क-वितर्क) किए बिना विश्वास कर लेते हैं। शिशून् का विशेषण।

तर्कबाणैरदिग्धान् — तर्क के बाणों से अदिग्ध, अस्पृष्ट।

अदिग्ध — अलिप्त। अदादिगणीय दिह उपचये धातु से क्त प्रत्यय होकर दिग्ध शब्द बनता है। लिप्त का पर्याय है।

दिग्धलिप्ते — अमरकोष 3.1.90। विष में सने हुए बाण के अर्थ में भी दिग्ध शब्द का प्रयोग होता है - विषाक्ते दिग्धलिप्तकौ, अमर. 2.8.83 दिग्धो विषाक्तबाणेस्यात्पुंसि लिप्तऽन्यलिंगक :— मेदिनी 79.7

तर्क— कल्पना, अंदाज, चर्चा, सन्देह। जो तर्क के बाणों से, सन्देह के बाणों से अलिप्त, असंपृक्त हैं।

शिशून् — शिशुओं को। शिशु का द्वितीया बहुवचनान्त प्रयोग। शिशु = बालक, बच्चा। पोत: पाकोऽर्भको डिम्भ: पृथुक: शावक: शिशु:- *अमरकोष* 2.5.38। दिवादिगणीय शो तनूकरणे धातु से 'श: कित् सन्वच्च' (उनादिसूत्र 1.20) से 'उ' प्रत्यय सन्वद्‌भाव होने से द्वित्व, बत्व आदि करने पर शिशु बनता है। श्यति शायते वा शिशु:। भ्वादिगणीय 'शश प्लुतगतौ' धातु से भी शिशु शब्द बनता है। इत्व और उत्व करने पर शिशु बनता है।

प्रणयसि — अनुरक्त होती हो, प्रेम करती हो। प्र उपसर्गपूर्वक नी धातु का लट्‌लकार मध्यमपुरुष एकवचन का रूप है।

तर्कलब्धावसादात् व्यथितमनस: — तर्क के अवसाद (खिन्नता) को प्राप्त करने से व्यथित मन वाले। यह पद विज्ञान् का विशेषण है।

विज्ञान् – विज्ञ शब्द का द्वितीया बहुवचन प्रयोग है। विज्ञ = जानने वाला, प्रतिभावान्, विशेषज्ञ, कुशल, शास्त्रचतुर आदि।

अमरकोष (3.1.4) में प्रवीण, निपुण, निष्णात, शिक्षित, वैज्ञानिक, कृतमुख, कुशल आदि के अर्थ में विज्ञ शब्द को स्वीकार किया है।

तर्केण अमा — तर्क के साथ। तर्क के समीप। अमा – के समीप, के साथ अर्थ का वाचक अव्यय है। अमा सह समीपे च (अमरकोश- 3.3.250 अमा सहार्थान्तिकयो: – विश्वकोश 189.43)

अनवस्थान हेतु: न विदित: – सम्बन्ध या स्थिति न होने के कारण ज्ञात नहीं है। तात्पर्य है कि श्रद्धा और तर्क को कोई दूर-दूर का सम्बन्ध नहीं होता। जहाँ श्रद्धा होगी वहाँ तर्क नहीं होगा और जहाँ तर्क होगा वहाँ श्रद्धा कहाँ से। तर्क सन्देह से उत्पन्न होता है और श्रद्धा सन्देह की विनाशिनी है। आदर्श चरितम् (2/75) में द्रष्टव्य है-श्रद्धा संदेहनाशिनी।

अलंकार – इस प्रथम श्लोक में अनेक सुन्दर अलंकार सहजतया अपनी रूप माधुरी का विस्तार करते दिखाई पड़ते हैं। अनुप्रास, परिकर, काव्यलिंग, संसृष्टि आदि अलंकार हैं।

दुग्धदिग्धास्यदन्तान् – अनुप्रास।

अनुप्रास – वर्णसाम्यमनुप्रास: (काव्यप्रकाश 10.104) वर्णों की समानता

को अनुप्रास कहते हैं। अनुप्रास के अनेक भेद स्वीकृत हैं, कुछ की उपलब्धि यहाँ है।

1. छेकानुप्रास - संयुक्त या असंयुक्त व्यंजनों की एक बार व्यवधान सहित या व्यवधान रहित आवृत्ति छेकानुप्रास है - सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः काव्यप्रकाश 9.106

'दुग्धदिग्धास्यदन्तान्' मे द् ग् ध् आदि अनेक व्यंजनों की एकबार आवृत्ति हुई है।

परिकर - साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग को परिकर अलंकार कहते हैं।

विशेषणैर्यत्साकूतैसक्तिः परिकरस्तु सः

काव्यप्रकाश 10.183

साभिप्रायविशेषणैर्भक्तिः परिकरः

अलंकार सर्वस्व - 32

उक्तैविशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मत·

साहित्यदर्पण 10.57

विशेषणानां साभिप्रायत्वं परिकरः

रसगंगाधर भाग - 3

पृ. 280

इस श्लोक में 'शिशून्' के लिए मुग्धान्, भद्रान्, अज्ञान् आदि अनेक साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग हुआ है।

काव्यलिंग - जब वाक्यार्थ या पदार्थ किसी कथन का कारण हो उसे काव्यलिंगालंकार कहते हैं।

काव्यलिंगं हेतोर्वाक्यपदार्थता-काव्यप्रकाशः - काव्यप्रकाश10.114

व्यथितमनसः में काव्यलिंगालंकार है।

तर्क के कारण जिसका मन खिन्न हो गया है। तर्क कारण है और मन की खिन्नता कार्य।

छन्द — प्रस्तुत काव्य में मन्दाक्रान्ता छन्द है। भावों की निर्मलता,

सहजाभिव्यक्ति, हृदय का स्वाभाविक रूप तथा सौन्दर्याधायक तथ्य की अभिव्यक्ति के लिए मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग किया जाता है। इस छन्द के माध्यम से शोक, करुणा, भक्ति, प्रेम आदि की अभिव्यक्ति सफल रूप से होती है। जिस काव्य में मर्म का प्रकाशन, हृदय का विगलन, भावना, कल्पना तथा संगीत का समन्वय हो उसमें मन्दाक्रान्ता का प्रयोग किया जाता है। विश्वप्रसिद्ध गीति काव्य मेघदूत मन्दाक्रान्ता छन्द में ही निबंधित है। अश्रुवीणा में चन्दनबाला के माध्यम से कवि का आत्मप्रकाशन हुआ है। इसलिए मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग उचित है। इसका लक्षण इस प्रकार है। आचार्य पिङ्गल ने छन्दशास्त्र में लिखा है —

मन्दाक्रान्ता म् भौ न् तौ त्गौ ग् समुद्रर्तुस्वराः

छन्दशास्त्र 7.19

जिसके प्रत्येक पाद में मगण, भगण, नगण, दो तगण तथा दो गुरु वर्ण हों उसे मन्दाक्रान्ता कहते हैं। चौथे, छठे और सातवें स्थान पर यति होती है।

संस्कृत-हिन्दी कोश में आप्टे ने लक्षण निर्दिष्ट किया है —

मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ ग युग्मम्

अश्रुवीणा के प्रथम श्लोक का प्रथम पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत है :—

मगण भगण नगण तगण तगण दो गुरु

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

श्रद्धे! मुग्धान् प्रणयसि शिशून् दुग्धदिग्धास्यदन्तान्

मंगलाचरण – ग्रंथ विरचन की निर्विघ्न समाप्ति की कामना से ग्रंथारंभ में मंगलाचरण की शिष्ट परम्परा है – ग्रन्थारम्भे ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मंगलमाचरणीयम्। आचार्य पतञ्जलि ने लिखा है – मंगलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति आयुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति – महाभाष्य, प्रथमाह्निक।

अर्थात् जिन शास्त्रों का आरंभ मंगलाचरण से किया जाता है, वे प्रसिद्ध होते हैं, उनके अध्ययन करने वाले वीर होते हैं, दीर्घायु होते हैं, उनके पढ़ने वाले छात्रों के सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण होते हैं।

जैन टीकाकारों ने निर्दिष्ट **किया है** –

नास्तिक्य परिहारस्तु शिष्टाचार प्रपालनम् ॥
पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः ॥

पंचास्तिकाय जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति
द्रव्यसंग्रह पर ब्रह्मदत्त की टीका

अब विचारणीय प्रश्न है कि **अश्रुवीणा** के प्रारंभ में कवि ने किस प्रकार का मंगलाचरण किया है?

यह तो सिद्ध है कि कवि ने **काव्यारंभ** में किसी प्रकार के इष्ट देवता का अभिवन्दन नहीं किया है। **'श्रद्धे!' शब्द का प्रथमोच्चारण** ही मंगल है। गण की दृष्टि से आदि मगण या ग्रन्थारंभ **में मगण का प्रयोग** ऐश्वर्य, विभूति, श्री, सम्पदा आदि का सम्बर्द्धक माना जाता है —

शुभदो मो भूमिमयः – **रघुवंश 1.1 पर** मल्लिनाथ टीका

यही कारण है कि **प्रायः प्रमुख महाकाव्यों**, खण्डकाव्यों का प्रारंभ मगण से ही देखा जाता है —

वागर्थाविव.	–	**रघुवंश**
कश्चित्कान्ता.	–	**मेघदूत**
दिक्कालाद्य.	–	**नीतिशतक** (भर्तृहरि)
चूडोत्तंसित	-	**वैराग्यशतक** – (भर्तृहरि)
पाणि ग्रहे.	-	**आर्या सप्तशती** – गोवर्धनाचार्य
श्रद्धे मुग्धान्	-	**अश्रुवीणा**

श्रद्धे मुग्धान् में मगण का **प्रयोग है इसलिए** मंगलकारक है। 'श' शब्द का उच्चारण शिव की अभिव्यक्ति **करता है। यह** शिव या परम मंगल का वाचक है। 'श' शब्द से ऐसे अस्त्र का **भी बोध होता है** जो काममलों का विनाशक हो। र शक्ति का वाचक है। इस प्रकार **'श्र' शब्द** काममल विनाशक एवं महाशक्ति का उद्घाटक सिद्ध होता है। **'श्रीं' शक्ति का** बीज मन्त्र माना जा... है। 'श्री' परमसौंदर्य एवं महदैश्वर्य का **बोधक है।** इस प्रकार श्रद्धे! शब्द का उच्चारण ही मंगल कारक है।

यहाँ प्रथम श्लोक में ही कवि को वह अनाविलता एवं सहजता काम्य है जो जन्म जन्मान्तरीय तपःसाधनों के अभ्यास से कर्मविच्छर्दित होने पर ही प्रकट होती हैं।

विशेष — यहाँ पर अमूर्त्त या भाव पदार्थ श्रद्धा का मूर्त्त चित्रण किया गया है इसलिए उपचारवक्रता - 'अन्य के धर्म का अन्य पर आरोप' का श्रेष्ठ उदाहरण बनता है। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में भाव पदार्थों - श्रद्धा, मोह, विवेक आदि का मूर्त चित्रण किया गया है। जैन परम्परा के मोहपराजय, ज्ञानसूर्योदय, मुद्रितकुमुदचन्द्र आदि नाटकों में भाव पदार्थों को पात्र के रूप में उपस्थित किया गया है।

(२)

संयोगात्तेऽनुभवति नरः पामरश्चामरेन्द्रं,
व्याघातात्ते प्रवर–चतुरश्चाप्यनादेयवाक्यम्।
पूज्याऽपूज्यान् गुरुकलघुकान् सज्जनाऽसज्जनांश्च,
भावाभावौ विभजति जनस्तत्र मानं तवैव॥

अन्वय – ते संयोगात् नरः पामरम् अमरेन्द्रम् अनुभवति। ते व्याघातात् प्रवरचतुरम् च अपि अनादेयवाक्यम् (भवति)। जनः पूज्यापूज्यान् गुरुकल-घुकान् सज्जनासज्जनांश्च विभजति तत्र तवैव भावाभावौ मानं (भवति)।

अनुवाद— (हे श्रद्धे!) तुम्हारे संयोग से व्यक्ति पामर (निकृष्ट) को भी अमरेन्द्र (इन्द्रदेव, श्रेष्ठ) मानने लगता है, लेकिन तुम्हारे व्याघात (विरोध, अभाव) से उत्कृष्ट चतुर व्यक्ति के वचन को स्वीकार नहीं करता है। मनुष्य जब पूज्य–अपूज्य, बड़े–छोटे, सज्जन–दुर्जन में विभाजन करता है तब तुम्हारा रहना या नहीं रहना ही मानदण्ड बनता है।

व्याख्या – इसमें श्रद्धा का महत्त्व प्रतिपादित है। श्रेष्ठ–निकृष्ट, पूज्य–अपूज्य आदि का निर्णय श्रद्धा के धरातल पर ही होता है। जिसके प्रति श्रद्धा है वह

स्वभावत: श्रेष्ठ स्वीकृत हो जाता है और जिसके प्रति श्रद्धा नहीं है वह निकृष्ट हो जाता है।

ते संयोगात् — हे श्रद्धे ! तव संयोगात् – समन्वयात् संगमात् वा = तुम्हारे संगम से, संयोग से।

नर: पामरम् अमरेन्द्रम् अनुभवति – मनुष्य: निकृष्टमपि श्रेष्ठं जानाति – अर्थात् श्रद्धावशात् व्यक्ति निकृष्ट को भी श्रेष्ठ मान लेता है। पामर = दुष्ट, नीच, गँवारू। अमरकोशकार ने नीच के वाचक अर्थ में पामर शब्द को निर्दिष्ट किया है –

विवर्ण: पामरो नीच: प्राकृतश्च पृथग्जन:।
निहीनोऽपसदो जाल्म: क्षुल्लकश्चेतरश्च स:॥

अमरकोश 2.10.16

पामर शब्द का द्वितीय एकवचन में पामरम् बना है – पामानं राति पामर: अर्थात् जो पाप अथवा दुष्टता को धारण करता है वह पामर है।

पा धर्म: म्रियते येन अर्थात् जिसके द्वारा धर्म मारा जाता है, धर्म की हत्या की जाती है वह पामर है। पा उपपद पूर्वक मृङ् प्राणत्यागे धातु से घ (अ) प्रत्यय होकर पामर बना है। द्वितीया एकवचन में पामरम्। भामिनी विलास 1.62 में जड़बुद्धि को पामर कहा गया है– वल्गंति चेत्पामरा:।

अमरेन्द्रम् — देवेशम् इन्द्रम् विष्णुं सर्वपूज्यम् वा। अमरेन्द्र शब्द का द्वितीया एकवचन। अमरेन्द्र = देवों का स्वामी, इन्द्र की उपाधि, विष्णु और शिव की उपाधि।

अनुभवति = स्वीकरोति मनुते वा। स्वीकार करता है, अनुभव करता है।

ते व्याघात् प्रवरचतुरमपि अनादेयवाक्यम् भवति — श्रद्धाया: निराशात् विरोधात् असमन्वयात् अभावात् वा कुशल प्रवीणमपि अनादेयवाक्यम् - विश्वासायोग्यवचनम् भवति। श्रद्धायाऽभावे सति कुशलप्रवीणचतुराणां वचस्यपि न विश्वसिति जन:।

व्याघात - विरोध, रुकावट, विघ्न। व्याघात शब्द के पंचमी एकवचन में 'व्याघातात्' बना है। विलगाव या विच्छेदन होने से पंचमी विभक्ति हुई है।

प्रवरचतुरम् - उत्कृष्टकुशलम्, कुशलात् कुशलम्-कुशल से कुशल व्यक्ति।

अनादेयवाक्यम् - अग्रहणीयवाक्यम् अविश्वनीय वाक्यम् वा। जिसके वाक्य, वचन पर विश्वास नहीं हो सके अथवा जिसका वचन ग्रहणीय नहीं है वह अनादेय वाक्य है। श्रद्धा के नहीं होने पर उत्कृष्ट व्यक्ति भी आदर का पात्र नहीं बन पाता है।

पूज्यापूज्यान् -- तवैव मानं विभजति-यह पूज्य है, यह अपूज्य है, यह श्रेष्ठ है। यह लघु है, यह सज्जन है यह असज्जन है, इस निर्णय में श्रद्धा का रहना (भाव) और न रहना (अभाव) ही मानदंड बनता है। श्रद्धापात्र व्यक्ति श्रेष्ठ और पूज्य होता है तथा जिसके प्रति श्रद्धा का अभाव हो वह अनादरणीय हो जाता है।

यहाँ पर मूर्त्त के धर्म — 'मानदण्ड' का अमूर्त्त (भाव) पदार्थ श्रद्धा पर आरोपित किया गया है। मानदण्ड तो कोई मूर्त्त पदार्थ ही हो सकता है लेकिन यह अमूर्त्त पदार्थ श्रद्धा को मानदण्ड बनाया गया है। उपचार वक्रता का उत्कृष्ट उदाहरण है।

माधुर्य गुण का रमणीय सौन्दर्य विद्यमान है। सम्पूर्ण अश्रुवीणा में माधुर्य एवं प्रसाद गुण का आधिपत्य है। चित्त को द्रवीभूत बनाने वाले आह्लाद को ही माधुर्य की संज्ञा दी है।

मधुर वर्ण, सानुनासिक वर्ण तथा छोटे-छोटे समासों के प्रयोग से माधुर्य की उत्पत्ति होती है। आचार्य मम्मट ने माधुर्य - व्यंजक वर्णों का निर्देश किया है :—

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा॥

अर्थात् ट वर्ग (ट-ण) को छोड़कर क से लेकर म तक का स्पर्श वर्ण जब अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त होते हैं। ह्रस्व स्वर युक्त रकार एवं णकार तथा समासरहित पदावली या अल्प समास युक्त पदावली माधुर्य गुण व्यंजक मानी जाती है। वक्रोक्तिकार ने द्विरुक्त त्, ल्, न् और र्, ह् आदि से संयुक्त य और ल को भी माधुर्य व्यंजक माना है। प्रस्तुत श्लोक में स्पर्श वर्णों के अतिरिक्त,

ञ्च, न्द्र, त्ते आदि माधुर्य व्यंजक वर्णों का विन्यास हुआ है। मम्मट के अनुसार माधुर्य गुण की परिभाषा है –

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्॥

काव्यप्रकाश 8.68-69

अर्थात् आह्लादक माधुर्य है जो द्रुतिकारक है। शृंगार, करुण, विप्रलम्भ और शान्तरस में इसका अतिशय प्रयोग होता है। चित्त की आर्द्रता को द्रुति कहते हैं जो आसूँ, पुलक आदि बाह्यचिह्नों से लक्षित होता है :—

चित्तस्यार्द्रताख्यो नेत्राम्बुपुलकादिसाक्षिको वृत्ति-

विशेष इत्यर्थः – काव्यप्रकाश 8.68-69 पर झलकीकर टीका।

अलंकार – इस श्लोक में काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास अनुप्रास आदि अलंकारों का सुन्दर विनियोग हुआ है।

संयोगात्ते — अमरेन्द्रं — काव्यलिंग

प्रथम दो का अंतिम दो पंक्तियों से समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

(३)

तत्रानन्दः स्फुरति सुमहान् यत्र वाणीं श्रिताऽसि,
दुःखं तत्रोच्छलति विपुलं यत्र मौनावलम्बा।
किं वाऽऽनन्दः किमसुखमिदं भाषसे सप्रयोगं,
त्वामाक्षिप्य स्वमतिजटिलास्तार्किका अत्र मूढाः॥

अन्वय – (हे श्रद्धे!) यत्र वाणीं श्रिताऽसि तत्र सुमहान् आनन्दो स्फुरति। यत्र (त्वं) मौनावलम्बा तत्र विपुलं दुःखं उच्छलति। किं आनन्दः किमसुखं वा इदं सप्रयोगं भाषसे। त्वामाक्षिप्य स्वमतिजटिलाः तार्किका अत्र मूढाः (भवन्ति)।

अनुवाद - (हे श्रद्धे!) जहाँ पर तू वाणी का आश्रय लेती हो (मुखर होती हो) वहाँ महान् आनन्द स्फुरित होता है। जहाँ तुम मौन का अवलम्ब लेती हो वहाँ दुःख उच्छलने लगता है (दुःख का साम्राज्य व्याप्त हो जाता है)। सुख अथवा दुःख की सप्रयोग (प्रयोगात्मक) परिभाषा तुम कहती हो। तुमको छोड़कर (तुम्हारी निन्दा कर) अपनी मति में उलझे हुए तार्किक लोग इस विषय में (सुख-दुःख की प्रयोगात्मक परिभाषा में) मूढ़ हो जाते हैं।

व्याख्या — इस श्लोक में श्रद्धा का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

यत्र वाणीं श्रिताऽसि तत्र सुमहान् आनन्दो स्फुरति — हे श्रद्धे! यत्र त्वं वाणीं श्रिताऽसि मौखर्यमवलम्बिताऽसि तस्मिन्नेव आनन्दधारा प्रवहति। जहां पर तुम वाणी का अवलंब लेती हो वहाँ आनन्द स्फुरित होता है — आनन्द का साम्राज्य व्याप्त हो जाता है। श्रद्धा युक्त वाणी अधिक सशक्त एवं सामर्थ्य शक्ति से संबलित हो जाती है। कवि का स्पष्ट अभिप्राय है कि श्रद्धा के धरातल पर वह सब कुछ सहज ही उपलब्ध हो जाता है जिसकी प्राप्ति इस देह में भी दुर्लभ है। उपनिषद् -- वाङ्मय, आगम साहित्य एवं गीता ने श्रद्धा के महत्त्व को स्वीकार किया है।

श्रद्धाया: संयोगादेव जन: निकृष्टमुत्कृष्टं इति अनुभवति। श्रद्धाऽभावे सति कुशल चतुरजनानां वचनमपि अविश्वासयोग्यमग्रहनीयमिति भवति। पूज्यापूज्य - ग्रहणीय - अग्रहणीय - सज्जन दुर्जनादिविषयेषु श्रद्धाया: भावाभावौ एव मानदण्डरूपेण स्वीक्रीयेते। अर्थात् श्रद्धासद्भावात् कोऽपि जन: सज्जनो भवति तदभावात् दुर्जनो भवति। श्रद्धापात्रो पूज्यो भवति। श्रद्धारहितो निन्दनीयो भवति।

भारतीय वाङ्मय में श्रद्धा का महत्त्व स्वीकृत है। संसार का आद्य ग्रंथ ऋग्वेद का स्पष्ट उद्घोष है कि श्रद्धा से तेज जागृत होता है -

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः

ऋग्वेद 10.151.1

अर्थात् श्रद्धा से ब्रह्मतेज प्रज्वलित होता है और श्रद्धा से ही हवि (दानादि) अर्पण किया जाता है।

श्रद्धा से पूर्ण विभूति एवं महदैश्वर्य की प्राप्ति सहजतया हो जाती है।

श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।

ऋग्वेद 10/151/4

ऋग्वेदी ऋषि श्रद्धा की महनीयता को जानकर उसकी उपासना में तल्लीन दिखाई पड़ता है। वह श्रद्धा से स्तुति करता है –

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।

10.151.5

हम प्रातःकाल में, मध्याह्न में और सूर्यास्त बेला में श्रद्धा की उपासना करते हैं। हे श्रद्धा! हमें इस विश्व में अथवा कर्म मे श्रद्धावान् कर। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण श्रद्धावान् को ही ज्ञान का अधिकारी माना है –

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

गीता 4.39

अर्थात् इन्द्रियसंयमी और श्रद्धावान् ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त होने पर शीघ्र परम शान्ति प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार श्रद्धा का महत्त्व सर्वस्वीकृत है। अलग से विस्तारपूर्वक इस विषय पर प्रकाश डाला जाना वांछनीय है।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार है। श्रद्धा का स्वाभाविक चित्रण होने से स्वभावोक्ति अलंकार भी है –

स्वभावोक्तिश्च डिम्भादे स्वक्रियारूपवर्णनम्

काव्यप्रकाश 10.168

पर्याय वक्रता, उपचार वक्रता, विशेषणा वक्रता तथा निपात वक्रता की दृष्टि से यह श्लोक उत्कृष्ट है।

माधुर्य गुण विद्यमान है।

(४)

सत्सम्पर्का दधति न पदं कर्कशा यत्र तर्काः,
सर्वं द्वैधं व्रजति विलयं नाम विश्वासभूमौ।
सर्वे स्वादाः प्रकृतिसुलभा दुर्लभाश्चानुभूताः,
श्रद्धा-स्वादो न खलु रसितो हारितं तेन जन्म॥

अन्वय — यत्र कर्कशा तर्काः (तत्र) सत्सम्पर्का पदं न दधति। सर्वं द्वैधं विश्वासभूमौ नाम विलयं यान्ति। प्रकृति सुलभा दुर्लभाश्च सर्वेस्वादा अनुभूताः (परं) श्रद्धास्वादो (येन) न खलु रसितो तेन जन्म हारितम्।

अनुवाद — जहाँ पर कर्कश (कठोर) तर्क होते हैं वहां अच्छे सम्बन्ध स्थिर नहीं होते हैं। सारे द्वैध (संघर्ष) विश्वास (श्रद्धा) की भूमि पर निश्चय ही विलय (विनाश) को प्राप्त हो जाते हैं। स्वाभाविक, सुलभ एवं दुर्लभ सभी स्वादों को अनुभूत कर लेने पर भी जिसने श्रद्धा का स्वाद नहीं चखा उसका जन्म ही वृथा है।

व्याख्या — इस श्लोक में श्रद्धा की महनीयता का निरूपण किया गया है। जहाँ श्रद्धा का साम्राज्य होता है, श्रद्धा होती है, वहाँ संघर्ष स्वतः समाप्त हो जाते हैं। कर्कश तर्क या वैचारिक भ्रान्ति ही संघर्ष को जन्म देते हैं। समाज-व्यवस्था या समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी यह श्लोक महनीय है। श्रद्धा, विश्वास के अभाव से ही पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर कलह, संघर्ष का जन्म होता है और जहाँ श्रद्धा होती है इन सबका विनाश हो जाता है।

यत्र ...... पदं न दधति - जहाँ पर कठोर तर्क होते हैं वहाँ पर सत्संपर्क ठहर नहीं पाते हैं।

यत्र = जहाँ पर। अव्यय पद है।

कर्कशाः — यह पद तर्काः का विशेषण है। यह शब्द दो धातुओं के मेल से बना है।

कृञ - हिंसायाम् (क्रयादि गणीय) एवं कश शब्दे (अदादि गणींय धातु)

कृञ् हिंसायाम् धातु से अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते 3.2.75 पाणिनि सूत्र से विच् प्रत्यय से कर, कश धातु से पचाद्यच् (3.1.134) सूत्र से अच् (अ) प्रत्यय करने

पर कश बना है। कर् चासौ कशश्च कर्कशः। यह शब्द साहसी, कठोर, रूखा, दृढ़,निर्दय, क्रूर आदि अर्थों का वाचक है या ये पर्याय शब्द हैं। कर्कश शब्द से हिंसा और क्रूर ध्वनि दोनों द्योतित हैं। हृदय के भाव - करुणा, श्रद्धा, दया, मैत्री, विश्वास आदि की जहाँ हिंसा हो और तज्जनित क्रूर शब्दों का कोलाहल हो, ऐसे स्थान पर अच्छे सम्बन्ध कैसे ठहर सकते हैं। सम्बन्ध तो हृदय के भावों के राज्य में होते हैं तर्क राज्य में नहीं। तर्क के कर्कश विशेषण से जिन भावों की अभिव्यक्ति हो रही वैसा अन्य शब्दों - कठोर, क्रूर आदि के प्रयोग से संभव नहीं था।

स्यात्कर्कशः साहसिकः कठोरामसृणावपि-अमरकोश 3.3.217
कर्कशः परुषे क्रूरे कृपणे निर्दये दृढे।
इक्षौ साहसिके कासमर्द काम्पिल्लयोरपि॥

विश्वकोश. 169.27-28

तर्काः — तर्क का बहुवचन रूप है। कल्पना, अन्दाज, चर्चा, संदेह, न्याय। मो. विलियम्स संस्कृत-अंग्रेजी कोश पृ. 439 में निम्न अर्थ किया गया है — Conjecture, guess, suspect, try to discover or ascertain etc.

यह दो धातुओं से निष्पन्न हो सकता है। 'तर्क भाषार्थ' चुरादि गणीय धातु से भावे घञ् (पा. 3.3.18) से घञ् प्रत्यय होकर तर्क प्रथमा बहुवचन में तर्काः बना है। तुदादिगणीय कृती छेदने धातु से अच् अथवा घञ् प्रत्यय तथा पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (पा. 6.3.109) सूत्र से वर्णविपर्यय होकर तर्क शब्द बना है। जहाँ पर हृदय के रमणीय एवं मनोज्ञ भावों का छेदन-भेदन हो जाए वह तर्क है। इस अर्थ में तर्क का साभिप्राय एवं यथोचित प्रयोग हुआ है। यहाँ कवि की कुशलता सिद्ध है।

सत्सपर्काः — साधुसंबन्धाः। अच्छे संबंध।

पदम् — पद शब्द के अनेक अर्थ हैं। यहाँ पर स्थान, आवास, अवस्था, स्थिति, हृदय में स्थान, आदि का वाचक है। स्थान स्थिति के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग -

तदलब्धपदं हृदिशोकघने *रघुवंश 8.91*

अर्थात् हृदय में स्थान न पाया।

अविवेक: परमापदां पदम् – किरात. 2.30 अर्थात् अविवेक विपत्तियों का आवास-स्थल है। दिवादिगणीय पद-गतौ धातु से अच्, नपुंसकलिंग में पदम् शब्द है। पद – स्थैर्ये (अमरकोश टीका) से भी पद शब्द व्युत्पन्न माना जाता है। अमरकोश कार ने 'पदम्' को व्यवसाय, रक्षा, स्थान, चिह्न, पैर, शब्द, वाक्य आदि का वाचक माना है।

पदं व्यवसितित्राणस्थान लक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु।

अमर. 3.3.93

सर्वं द्वैधं — विलयं व्रजति – सभी प्रकार के संघर्ष विश्वास की भूमि पर निश्चय ही समाप्त हो जाते हैं।

सर्वम् — सर्व शब्द के नपुंसक लिंग। द्वैधं का विशेषण। यह सम्पूर्ण, समस्त, कृत्स्न आदि का वाचन है —

अथ समं सर्वम्
विश्वमशेषं कृत्स्नं समस्तनिखिलाखिलानि निशेषम्।
समग्रं सकलं पूर्णमखण्डं स्यादनूनके॥

अमरकोश 3.1.64-65

द्वैधम् – द्वि + धमुञ् नपुंसकलिंग।

द्वैतावस्था, विविधता, भिन्नता, संघर्ष, विवाद, विभेद आदि अर्थों का वाचक है। प्रस्तुत संदर्भ में संघर्ष, विवाद, भिन्नता आदि अर्थ ग्राह्य हैं।

विश्वासभूमौ – विश्वास की भूमि पर, श्रद्धा के धरातल पर, सप्तमी एक-वचन। विश्वास पद प्रत्यय, भरोसा, निष्ठा, विश्रम्भ आदि अर्थों का वाचक है। यह वि उपसर्गपूर्वक 'श्वस प्राणने' धातु से घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। जहाँ विशेष रूप से प्राण का सम्बन्ध हो जाए, अकाट्य निष्ठा हो जाए उसको विश्वास कहते हैं।

समौ विश्रम्भविश्वासौ – *अमरकोश* 2.8.23

नाम — यह अव्यय पद है। नामधारी, नामक निस्सन्देह, निश्चय ही, सचमुच, वास्तव में अवश्य आदि अर्थों का वाचक है।

प्रस्तुत संदर्भ में 'निश्चय ही' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

न्नम प्रकाश्य संभाव्यक्रोधोपगम कुत्सने। *अमर.* 3.3.251

विलयम् – विनाशम्, मृत्युम् अन्तम् वा। वि उपसर्ग पूर्वक ली श्लेषणे धातु से अच् एवं द्वितीया एकवचन।

दिवसोऽनुमित्रमगमद् विलयम् – शिशुपालवध (9.17), विलयं नाशम्

– *सर्वंकषा टीका*

व्रजति – गच्छति। व्रज गतौ लट्लकार प्रथम पुरुष एकवचन का रूप। विनाश को प्राप्त हो जाता है। सभी प्रकार के संघर्ष श्रद्धा की भूमि पर, प्राण के राज्य में आकर समाप्त हो जाते हैं — इस तथ्य का सुन्दर प्रतिपादन कवि ने किया है। प्रसंगानुकूल शब्दों का विनियोजन हुआ। अनुप्रास की श्रुति रमणीयता विद्यमान है।

श्रद्धास्वादो न खलु रसितो हारितं तेन जन्म — जिसने श्रद्धा का स्वाद नहीं चखा वह जन्म ही हार गया अर्थात् उसका जन्म ही वृथा हो जाता है। उपचारवक्रता का सुन्दर उदाहरण है। श्रद्धा का स्वाद मूर्त्त विषय को अमूर्त्त पर आरोपण हुआ है। अच्छी सूक्ति बन गई है।

खलु – यह अव्यय पद है जो निम्नलिखित अर्थों में प्रयुक्त होता है —

1. निस्संदेह, निश्चय ही, अवश्य, सचमुच।
2. अनुरोध, अनुनय-विनय, प्रार्थना।
3. पूछताछ
4. प्रतिषेध
5. तर्क
6. पूरक के रूप में
7. कभी-कभी वाक्यांलकार के रूप में।

संस्कृत-हिन्दी कोश, आप्टे, पृ. 325

निषेधवाक्यालंकारे जिज्ञासानुनये खलु।

अमरकोश 3.4.255

खलु स्याद् वाक्यभूषायां जिज्ञासायां च सान्त्वने।
वीप्सामान निषेधेषु पूरणे पदवाक्ययोः।

मेदिनी 184.73

रसितो - भुक्तो। आस्वादनस्नेहनयोः से क्त प्रत्यय होकर बना है। जिन्होंने श्रद्धा स्वाद का आस्वादन नहीं किया उसका जन्म ही वृथा है।

अलंकार अनुप्रास ।व्रजति ।विलयम्-काव्यलिङ्गालंकार ।सत्सपर्का - तर्काः। अर्थान्तर न्यासालंकार ।

'सर्व द्वैधं व्रजति विलयम्' का श्रद्धा- स्वादो. के द्वारा समर्थन किया गया है। जहाँ सामान्य का विशेष से विशेष का सामान्य से समर्थन किया जाता है उसे अर्थान्तरन्यासालंकार कहते हैं।

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा॥

काव्यप्रकाश 10.165

(५)

चित्रं चित्रं तव सुमृदवः प्राणकोशास्तथापि,
कष्टोन्मेषे दृढतममतौ मानवे चानुरागः।
श्रद्धाभाजौ जगति गणिताः सन्दिहाना असंख्याः,
श्रद्धा-पात्रं भवति विरलस्तेन कश्चित्तपस्वी॥

अन्वय — (हे श्रद्धे!) तव प्राणकोशाः सुमृदवः तथापि कष्टोन्मेषे दृढतममतौ मानवे अनुरागः च इति चित्रम् चित्रम्। जगति श्रद्धाभाजो गणिताः सन्दिहाना असंख्याः। तेन कश्चित् विरलः तपस्वी श्रद्धा-पात्रम् भवति।

अनुवाद — हे श्रद्धे! तुम्हारे प्राणकोश (अभ्यन्तर भाग) अत्यन्त कोमल हैं फिर भी कष्ट के उन्मेष (बवंडर) में कठोर (स्थिर) मतिवाले मनुष्य में

अनुराग रखती हो – यह महान् आश्चर्य है। संसार में श्रद्धाभाज (श्रद्धा का अधिकारी) गिने हुए है--(अत्यल्प [illegible]) परन्तु सन्देहशील असंख्य। इसलिए कोई विरल तपस्वी ही श्रद्धा पात्र होता है।

व्याख्या – विवेच्य श्लोक में अनुप्रास, विरोध, विशेषोक्ति, विभावना, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, संसृष्टि, संकर आदि अलकारों के माध्यम से श्रद्धा के अधिकारी के स्वरूप की ओर निर्देश किया गया है। श्रद्धा के रमणीय रूप का भी अभिव्यंजन हो रहा है।

तवप्राणकोशाः सुमृदवः = तुम्हारे प्राणकोश अत्यन्त मृदु हैं।

तव - श्रद्धायाः प्राणकोशाः – अभ्यन्तरस्थनानि आत्मप्रदेशाः वा सुमृदवः – सुकुमाराः सन्ति। प्राणकोशाः – प्राणकोशा–भीतर भाग, प्राणाः

कुश्यन्ति संश्लेषयन्ति यत्र तत् प्राणकोशः प्रथमैकबहुवचने प्राणकोशाः अभ्यन्तर प्रदेशा इत्यर्थः।

सुमृदवः — सुकुमाराः। सुमृदु शब्द का प्रथमा बहुवचन। सु एक निपात है जो कर्मधारय एवं बहुब्रीहि समास बनाने के लिए संज्ञा शब्दों से पूर्व जोड़ा जाता है। विशेषण और क्रियाविशेषण में भी इसका प्रयोग होता है। अच्छा, सुन्दर, मनोहर, सर्वथा, पूरी तरह, आसानी से, अधिक आदि अर्थों का वाचक है। पूजने स्वती - *अमर.* 3.4.5, सु पूजायां भृशार्थेऽनुमति कृच्छ्रसमृद्धिषु' — *मेदिनी* 185.79, षु गतौ (प्रसवैश्वर्ययोः) से डुः (उ) प्रत्यय हुआ है।

मृदु विशेषण पद है। सु उपपद के साथ सुमृदु बना है। मृदु शब्द चिकना, कोमल, लचीला, सुकुमार, नम्र आदि अर्थों का वाचक है।

सुकुमारं तु कोमलं मृदु, *अमरकोश* 3.1.78, कोमलं मृदुले जले – *विश्वकोश* 156.95, मृदुतीक्ष्णे च कोमले – *हैमकोशः* 2.236, मृदु - क्षोदे (क्रयादिगण) से प्रथिमृदिभ्रस्जाम् (*उणादिसूत्र* 1.28) से उ प्रत्यय होकर मृदु बना। जहाँ पर कठोरता, कर्कशता पीस जाए, समास हो जाए उसको मृदु कहते हैं। मृदु में कठोरता का सर्वथा अभाव हो जाता है, केवल कोमलता, मसृणता ही अवशिष्ट होती है। तभी 'सुमृदवः' शब्द को 'प्राणकोशाः' का विशेषण बनाया है।

कष्टोन्मेषे दृढ़तममतौ मानवे अनुरागः च–तुम्हारे प्राणकोशं अत्यन्त कोमल हैं और दुःख के भँवर में जो कठोर एवं स्थिर मति वाला होता है उसमें तुम्हारा

अनुराग है। श्रद्धा कोमल है, सुकुमार है उसका स्नेह सुकुमार के प्रति ही होना चाहिए।

लेकिन इसके विपरीत उसका अनुराग कठोर मति वाले व्यक्ति के साथ होती है, यहाँ विरोध प्रतीति हो रही है इसलिए विरोधाभास अलंकार है।

विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः- *मम्मट,* *काव्यप्रकाश* 10.166

विरोध न होने पर भी जहाँ विरोध की प्रतीति हो उसे विरोधाभास अलंकार कहते हैं। यहाँ विरोध भासमान होता है, वस्तुतः विरोध होता नहीं है। वर्णनीय में चमत्कार सामर्थ्य की उत्पत्ति के लिए कवि विरोधमूलक वर्णन करता है। श्रद्धा कोमल स्वभावा है परन्तु प्रेम कठोर व्यक्तियों से करती है — यहाँ विरोध की प्रतीति मात्र है, वास्तविक विरोध नहीं है। श्रद्धा उन्हीं का वरण करती है जो स्थिर मति वाले हैं। सुख-दुःख में अडोल रहने वाले हैं। यह विरोध परिहार है। 'वह कोमल है' ऐसा कारण विद्यमान होने पर भी कोमल व्यक्ति से अनुराग रूप कार्य का सम्पादन नहीं हो रहा है। कारण होने पर भी कार्य का नहीं होना विशेषोक्ति अलंकार है —

विशेषोक्ति रखण्डेषु कारणेषु फलावचः *काव्यप्रकाश 10.165*

दृढ़मति वाले, अडोल एवं कठोर व्यक्तियों के साथ वह अनुराग करती है - यह कार्य है, श्रद्धा में कठोरता का होना कारण बनता है। श्रद्धा कठोर नहीं है - कारण का अभाव है फिर भी कठोरमति वाले के प्रति अनुराग रूप कार्य हो रहा है। कारण के अभाव में कार्य का होना विभावना अलंकार है।

क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिः विभावना

काव्यप्रकाश 10.162

कष्टोन्मेषे — कष्टोद्रेके। कष्ट के उन्मेष होने पर।

उन्मेष शब्द जागना, फैलना, प्रकाश, दीप्ति आदि का वाचक है। कष्टाधिक्य के प्रतिपादन के लिए उन्मेष शब्द का प्रयोग हुआ है। दुःख के भँवर में।

दृढ़तममतौ मानवे – दृढ़मति वाले मनुष्य में अनुराग करती है।

श्रद्धा उसी का वरण करती है जो [illegible] होते हैं। सुख-दुःख में समान रहते हैं।

अनुराग — अनु उपसर्गपूर्वक रञ्ज धातु से घञ् प्रत्यय करने पर अनुराग बनता है। जो भक्ति, आसक्ति, प्रेम, स्नेह, निष्ठा आदि का वाचक है।

साधना की भूमि में जाने के लिए यह प्रथम योग्यता है — समवृत्ति धारण करना। लाभ-अलाभ में सम रहना, स्थिर रहना। गीता की भाषा में उसे वीतराग कहते हैं।

इति चित्रम् चित्रम् — यह आश्चर्य का विषय है। चित्रम् शब्द अहा! कैसा विस्मय है। आश्चर्य है, आदि का वाचक है, इसकी पुनरावृत्ति आश्चर्याधिक्य द्योतनार्थ है। इस अर्थ में यह अव्यय है।

आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम् – *अमरकोश. 13.3.178*

जगति श्रद्धाभाजो गणिताः — संसारेऽस्मिन् श्रद्धाशीला: गणनीया: अत्यल्पा इत्यर्थ:। इस संसार में श्रद्धाशील पुरुष अत्यल्प हैं। क्षद्धा के अधिकारी अत्यल्प हैं।

सन्दिहानाः – संदेहशीला असंख्या – संख्यारहिता इत्यर्थ:।

श्रद्धाभाज् के प्रथमा बहुवचन में श्रद्धाभाज: होता है। भाज् शब्द प्राय: समास के अन्त में आता है। इसका अर्थ होता है — हिस्सेदार, साथी, भागी, रिक्थ, अधिकारी, भावुक, सचेतन, अनुरक्त आदि। यहाँ अधिकारी अर्थ उचित है।

तेन कश्चित् विरलः तपस्वी श्रद्धापात्रम् भवति–यही कारण है कि कोई विरल तपस्वी (साधक) ही श्रद्धा का पात्र होता है।

विरल: — यह विशेषण पद है। तपस्वी का विशेषण है। निराला, दुर्लभ, थोड़ा, अल्प आदि अर्थों का वाचक है। पेलवं विरलं तनु – *अमरकोश* 3.1.66 विरलेऽल्पे कृशे – *हैमकोश* 2.270 वि उपसर्गपूर्वक रा–दाने धातु से वाहुलकात् कलन् (अल्) प्रत्यय होकर विरल बना है। विशेषेण राति गुण ज्ञानादिभि: ददाति प्रकाशति विशिष्टो भवति सो विरल अत्यल्प इत्यर्थ:।

यह सूक्ति है। सामान्य के द्वारा विशेष के समर्थन से, यहाँ अर्थान्तर न्यास अलंकार है। माधुर्य गुण और उपचार वक्रता की छटा विद्यमान है।

(६)

श्रद्धावृत्तं लिखितमधुनाप्यस्ति वाष्पाम्बुमष्या,
भक्त्युद्रेकाद् द्रवति हृदयं द्रावयेत्तन्न कं कम्।
श्रद्धापूता समजनि सती चन्दना वन्दनीया,
भक्तिस्नातोऽप्यजनि भगवान् भावनापूर्त्यवन्ध्यः॥

अन्वय – अधुनापि वाष्पाम्बुमष्या श्रद्धावृत्तं लिखितमस्ति। भक्त्युद्रेकात् हृदयं द्रवति। तत् कं कं न द्रावयेत्। श्रद्धापूता सती चन्दना वन्दनीया समजनि। भक्तिस्नातो भगवान् अपि भावनापूर्ति अवन्ध्यः अजनि।

अनुवाद – आज भी आँसू रूप स्याही से श्रद्धा का इतिहास लिखा हुआ है। भक्ति (श्रद्धा) के उद्रेक से भक्त का हृदय तो द्रवित होता ही है (वह उद्रेक) अन्य किसको नहीं द्रवित कर देता है? श्रद्धा से पवित्र होकर सती चन्दनबाला वन्दनीया बन गई। भक्ति में भगवान् भी स्नात हुए और उसकी भावना को सफल किया।

व्याख्या – इस श्लोक में श्रद्धा का महत्त्व प्रतिपादित है।

अधुनापि वाष्पाम्बुमष्या श्रद्धावृत्तं लिखितमस्ति–आज भी आँसू रूप स्याही से श्रद्धा का इतिहास लिखा हुआ है। 'वाष्पाम्बुमष्या' में रूपक अलंकार का प्रयोग हुआ है। जहाँ उपमान और उपमेय में अभेदारोप हो उसे रूपक अलंकार कहते हैं।

अधुना और अपि दो अव्यय पद हैं। अधुना = अभी, आज, इस समय, अपि = भी

श्रद्धावृतम् — श्रद्धा का इतिहास लिखा हुआ है। यहाँ पर मूर्त्त के धर्म – इतिहास लेखन का आरोप अमूर्त्त वस्तु श्रद्धा पर आरोपित किया गया है।

भक्त्युद्रेकात् द्रवति हृदयं द्रावयेत् न कम्कम्–भक्ति के उद्रेक से भक्त का हृदय द्रवित हो जाता है। वह उद्रेक भगवान् को भी द्रवित कर देता है। द्रावयेत् न कम् कम्' में अर्थापति अलंकार है। कैमुतिक न्याय एवं दण्डापूपिका न्याय से अर्थापति की सिद्धि होती है।

दण्डापूपिकयापतनमर्थापत्तिः — अलंकार रत्नाकर 41

कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलंक्रिया

प्रतापरुद्रीय 8.228

(७)

निर्ग्रन्थानामधिपतिरसौ पश्चिमस्तीर्थनाथो-
देह-स्नेहं सहजसुलभं बन्धहेतुं व्युदास्य।
दीर्घं कालं विविधविधिभिर्घोररूपं तपस्य
न्नेकं कञ्चित् कुलिशकठिनोऽभिग्रहं चारु चक्रे॥

अन्वय–असौ निर्ग्रन्थानामधिपतिः **पश्चिमस्तीर्थनाथः** कुलिशकठिनः बन्धहेतुं सहजसुलभं देहस्नेहं व्युदास्य दीर्घकालं विविधविधिभिः घोररूपं तपस्यन् कञ्चित् चारू अभिग्रहं चक्रे।

अनुवाद–वे निर्ग्रन्थों के अधिपति, अंतिम तीर्थंकर, वज्र के समान कठोर (भगवान् महावीर) बन्ध का कारण सहज सुलभ देहासक्ति का परित्याग कर दीर्घकाल तक विविध प्रकार से घोर तपस्या करते हुए एक अभीष्ट अभिग्रह को ग्रहण किया।

व्याख्या–इस श्लोक में परिकर, पर्याय, उपमा, अनुप्रास, काव्यलिंग, विरोध, विभाविना, विशेषोक्ति, संकर, संसृष्टि आदि सहजोपस्थित अलंकारों के माध्यम से महाकवि महाप्रज्ञ ने भगवान् महावीर के उदात्त चरित्र का उपस्थापन किया है।

असौ=वह

निर्ग्रन्थानामधिपतिः – **निर्ग्रन्थों के अधिपति।** जो ग्रन्थि से, बन्धन से निकल चुका है वह निर्ग्रन्थ है। **बन्धनविमुक्त। मोहरहित** निर्ग्रन्थ है। जो बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के बन्धनों से रहित हो चुका है वह निर्ग्रन्थ है। सूत्रकृतांग

चूर्णि पृ. 246 पर निर्दिष्ट है–

वज्झ अब्भंतरातो गंथातो णिग्गतो निग्गंथो। अर्थात् जो बाह्य और अभ्यन्तर बन्धन से विनिर्मुक्त है वह निर्ग्रन्थ है। भागवतपुराण में आत्मलीन मुनि को निर्ग्रन्थ कहा गया है—आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरूक्रमे।

भागवतपुराण 1.7.4

धवलाकार के अनुसार जो बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से रहित है वह निर्ग्रन्थ है

बज्झ ब्भंतरपरिग्गह परिच्चाओ णिग्गंथ- धवला–9.4.1.67,323.7

बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह; आसक्ति, ममत्व आदि से रहित मुनियों के अधिपति–स्वामी। अधिपति=स्वामी, शासक, राजा, प्रभु, प्रधान, अधिप और अधिपति शब्द एकार्थक हैं जो प्रायः समास में प्रयुक्त होते हैं।

पश्चिमः तीर्थनाथः – अंतिम तीर्थंकर। पश्चिम शब्द यहाँ आखिर, अन्तिम, चरम आदि का वाचक है।

अन्तो जघन्यं चरममन्त्य पाश्चात्यपश्चिमम्। *अमरकोश 3.1.81*

पश्च शब्द से डिमच् प्रत्यय हुआ है। अग्रादिपश्चाड्डिमच् (वा. 4.3.23) से डिमच् प्रत्यय हुआ है।

तीर्थनाथः – तीर्थ के नाथ, तीर्थ स्वामी, तीर्थंकर। तीर्थ जिसके द्वारा तरा जाए वह तीर्थ है। जो तारणे में समर्थ हो वह तीर्थ है।

तृ प्लवनतरणयोः धातु से थक् प्रत्यय हुआ है । उणादि सूत्र पातृ तुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक् (2.7) से यहाँ थक् हुआ। जो ज्ञान, दर्शन और चारित्रमय तीर्थ का स्वामी है–अथवा जो तीर्थ–गणधरों के स्वामी हैं; अथवा जो श्रमण–श्रमणी श्रावक–श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ (धर्म संघ) का स्वामी है। वह तीर्थनाथ है। भगवान महावीर का विशेषण है।

कुलिश कठिनः –वज्र के समान कठोर अथवा वज्र से भी कठोर। यहाँ दोनों अर्थ ग्राह्य हैं। प्रथम में उपमा, द्वितीय में व्यतिरेक अलंकार की उपस्थिति मानी

जाएगी। जहाँ पर उपमेय उपमान से अधिक गुण वाला हो जाए उसे व्यतिरेक कहते हैं। उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः

काव्यप्रकाश 10.159

बन्धहेतुं सहजसुलभं देहस्नेहम् = देह के प्रति आसक्ति सहज सुलभ बन्धन का कारण है। बन्ध हेतु एवं सहज सुलभ शब्द देहस्नेहं का विशेषण है।

व्युदास्य-वि एवं उद् उपसर्गपूर्वक दिवादिगणीय 'असुक्षेपणे' धातु से बना है, जिसका अर्थ छोड़कर, अस्वीकार कर, परित्याग कर आदि है। भगवान् ने सहज रूप से सुलभ बन्धन का कारण देह के प्रति आसक्ति को सम्पूर्ण रूप से परित्याग कर तपश्चर्या कर रहे थे। 'व्युदास्य' पद से देहासक्ति का पूर्णतया परित्याग संसूचित है।

दीर्घ कालं – चक्रे – दीर्घ काल तक विविध विधि से अत्यन्त कठोर तपस्या करते हुए कुछ सुन्दर अभिग्रह को धारण किया! चारू अभिग्रहं चक्रे – चारू पद अभिग्रह का विशेषण है जो अभिग्रह की सुन्दरता एवं उत्कृष्टता को अभिव्यंजित करते हैं। जो हृदय को प्रिय लगे वह चारु है, या जो चित्त में सहजतया संचरण करने लगे वह चारू है। निरूक्तकार यास्क ने चारू का निर्वचन किया है-चारू चरतेः (नि.8.15) अर्थात् जो हृदय में सहजतया चरण करने लगे, व्याप्त हो जाए उसे चारु कहते हैं। अमरकोश (3.1.52) में सुन्दर के 12 पर्यायों में से चारू को माना है—सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम्। कान्तं मनोरमं रूच्यं मनोज्ञं मंजु मंजुलम्।

चारू शब्द भ्वादिगणीय 'चर गतौ' धातु से उणादिसूत्र 'दृसनिजनि'. (1.3) से ञुण् (उ) प्रत्यय करने पर बनता है। जो चित्त में रमण करने लगे, व्याप्त हो जाए उसे चारू कहते हैं। अभिग्रह के लिये चारू विशेषण का प्रयोग साभिप्राय है।

अभिग्रह-अभि उपसर्ग पूर्वक ग्रह धातु से अच् प्रत्यय करने से अभिग्रह शब्द निष्पन्न होता है जिसका सामान्य अर्थ है छिनना, ठगना, अधिकार, प्रभाव आदि। प्रस्तुत संदर्भ में विशिष्ट प्रयोग है। यहाँ पर अभिग्रह का अर्थ है वैसी प्रतिज्ञा जिसका ग्रहण संकल्पपूर्वक श्रद्धा और ज्ञान के साथ ग्रहण किया जाए। आवश्यक टीका (हरिभद्रीया) में निर्दिष्ट है-अभिगृह्यन्ते इति अभिग्रहाः अर्थात् जिनको संकल्पपूर्वक ग्रहण किया जाए वे प्रतिज्ञाएँ अभिग्रह हैं।

(८)

क्रीता कन्या नृपतितनया मुण्डिता चिह्निताऽपि,
पाशैर्बद्धा करचरणयोस्त्र्याहिकक्षुत्क्लमा च।
संभिन्दाना व्यथितहृदया देहलीं नाम पद्भ्यां,
मध्याह्नोर्ध्वं प्रतनु रुदती सूर्पकोणस्थमाषान्॥

(९)

दद्याद् भोक्ष्ये ध्रुवमितरथा नाहरिष्यामि किञ्चित्,
षण्मासान्तं सुविहिततपा नैव पास्यामि नीरम्!
श्रुत्वाऽप्येतत् सतनुमनसो वेपनं तद्व्रतं य-
च्छ्रद्धा-रेखा भवति खचिता नैकरूपा जनानाम्॥ (युग्मम्)

अन्वय-नृपति तनया क्रीता कन्या मुण्डिता चिह्निताऽपि करचणयो: पाशैर्बद्धा त्र्याहिक क्षुत्क्लमा संभिन्दाना व्यथितहृदया देहलीं नाम पद्भ्याम् प्रतनु रूदति च मध्याह्नोर्ध्वं सूर्प कोणस्थ माषान् दद्यात् भोक्ष्ये इतरथा षण्मासान्तं न किञ्चित् आहरिष्यामि नैव नीरम् पास्यामि ध्रुवम्। तद्व्रतं एतत् श्रुत्वा सतनु मनसो वेपनम्। यत् जनानाम् श्रद्धा रेखा नैकरूपा खचिता भवति (युग्मम्)।

अनुवाद- (भगवान् महावीर ने इस प्रकार अभिग्रह किया) राजकुमारी, क्रीत (खरीदी हुई) कन्या, मुण्डित, कलंकित हाथ और पैर पाश में बँधी हुई, तीन दिन से क्षुत्पीड़ित, पीड़ित एवं व्यथित हृदय वाली, देहली पर खड़ी (एक पैर द्वार के बाहर एवं एक भीतर) और लगातार रोती हुई (आँसू बहाती हुई) तृतीय प्रहर में छाज के कोने में स्थित (उबले हुए) उड़द को यदि भिक्षा दान देती है तब मैं (ग्रहण कर) भोजन करूँगा अन्यथा छ: मास तक न कुछ भोजन ग्रहण करूँगा और पानी भी नहीं पीऊंगा। उस कठोर अभिग्रहव्रत को सुनकर (सामान्य मनुष्य) का शरीर और मन काँपने लगता है। क्योंकि मनुष्यों की श्रद्धा की रेखा अनेक रूप में खचित होती है।

व्याख्या-भगवान् दृढ़प्रतिज्ञ एवं कठोरव्रती थे। अपने संयम यात्रा में कठोर से कठोर व्रतों को धारण करते थे। अभिग्रह, प्रतिज्ञा या संकल्प व्रत-साधना का

एक सोपान है। आज भी जैन महाव्रतियों में अभिग्रह-साधना की परम्परा सहज रूप में प्रचलित है। परिकर, काव्यलिंग एवं अनुप्रास अलंकार हैं।

(१०)

खेदं स्वेदो बहिरपनयञ्जात आकस्मिकेन,
प्रोल्लासेनाऽभ्युदयमयता दर्शनाद् विश्वभर्तुः
कामं भ्रान्तां किमपि किमपि प्रस्मरन्तीं स्मरन्तीं,
स्वस्थां चक्रे पुलकिततनुं चन्दनां स्मेरनेत्राम्॥

अन्वय- आकस्मिकेन विश्वभर्तुः दर्शनात् अभ्युदयमयता प्रोल्लासेन खेदं स्वेदो बहिरपनयञ्जात। कामं भ्रान्तां किमपि किमपि प्रस्मरन्ती स्मरन्तीं पुलकिततनुं स्मेरनेत्राम् चन्दनाम् स्वस्थां चक्रे।

अनुवाद- अचानक विश्वपालक के दर्शन से उत्पन्न अभ्युदयमय प्रोल्लास द्वारा खेद खिन्नता के रूप में बाहर निकल गया। वह भ्रान्त बनी चन्दनबाला अपने पूर्व के कष्टों का स्मरण करती हुई प्रफुल्लित आँखों एवं पुलकित शरीर वाली चन्दनबाला स्वस्थ हो गयी।

व्याख्या- इष्ट प्राप्ति से खेद समाप्त हो जाता है। स्वेद और रोमांच उत्पन्न हो जाते हैं। चन्दनबाला भगवान को पाकर धन्य-धन्य हो गयी। इसमें परिकर, काव्यलिंग आदि अलंकार हैं।

(११)

धन्यं धन्यं शुभदिनमिदं विद्युता द्योतिताशः,
सिञ्चन्नुर्वीं नवजलधरः कर्षकेणाद्य दृष्टः।
तापः पापोऽगणितदिवसैरन्तरुर्व्याः प्रविष्टः,
श्वासानन्त्यान् गणयतितमां निःश्वसन्नुष्णमुच्चैः॥

अन्वय- इदम् शुभ दिनम् धन्यम्-धन्यम् । विद्युताद्योतिताशः नवजलधरः उर्वीं सिञ्चन् अद्य कर्षकेण दृष्टः अगणित दिवसैः उर्व्याः अन्तः प्रविष्टः पापो तापः उष्णमुच्चैः निश्वसन् अन्त्यान् श्वासन् गणयतितमाम्।

अनुवाद- अहो! आज का शुभ दिन धन्य है। आज बिजली से दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ नव जलधर बादल धरती को सिंचित करता हुआ कृषक के द्वारा देखा गया। (नये बादलों ने बरसात कर दी) बहुत दिन से पृथ्वी के अन्दर में प्रविष्ट (ग्रीष्म ऋतु का) दुष्ट ताप ऊँचे और गर्म आहें छोड़ता हुआ अंतिम श्वासों को गिन रहा है।

व्याख्या- भगवान को देखकर दुःखी चन्दनबाला कृत्य-कृत्य हो गयी। अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार के माध्यम से भगवान के आवागमन पर चन्दनबाला की मनोदशा का सुन्दर चित्रण किया गया है। धरती के ब्याज से चन्दनबाला की मार्मिक कथा का निर्देश मिलता है। भगवान रूप नवजलधर ने जब उर्वी रूप चन्दना पर कृपा की बरसात की तो उसे ऐसा लगा कि उसके अन्दर विद्यमान सारे पाप ताप अब समाप्त हो जाएँगे । मम्मट ने अप्रस्तुत प्रशंसा का लक्षण दिया है- अप्रस्तुत प्रशंसा या सा प्रस्तुताश्रया *काव्य प्रकाश 10.98*

अप्रस्तुत (अप्रासंगिक) के वर्जन से प्रस्तुत (प्रासंगिक) का आक्षेप कर लिया जाता है वह अप्रस्तुत प्रशंसा है। यहाँ मेघ का, वर्णन अप्रस्तुत है भगवान का प्रस्तुत। नवजलधर के द्वारा भगवान का, उर्वी द्वारा चन्दनबाला का, जलधारा के द्वारा कृपा आदि का आक्षेप किया गया है। काव्यलिंगा लंकार भी है। वर्षा के कारण ताप अन्तिम साँसें गिन रहा है। उपचार वक्रता का सुन्दर उदाहरण है। मनुष्य के धर्म-साँस लेना आदि का ताप पर आरोप किया गया है। 'मानों अन्तिम साँसें गिन रहा है' ऐसा अर्थ करने पर उत्प्रेक्षा अलंकार की उपस्थिति

भी हो जाती है। धन्यम्-धन्यम्, विद्युताद्योतिताश: आदि में अनुप्रास का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

इदं शुभ दिनम् धन्यं धन्यं- यह शुभ दिन धन्य है। भगवान के आगमन पर उस दिन की शुभता सिद्ध है।

विद्युताद्योतिताश: - बिजली के द्वारा दिशाओं को प्रकाशित करने वाला। बादल का विशेषण। आशा = दिशा। दिशस्तु ककुभ: काष्ठा आशाश्च हरितश्च ता: (*अमरकोश 1.3.1*) दिशा, ककुभ काष्ठा आशा और हरित पाँच पर्याय नाम हैं। आ समन्तात् अश्नुते व्याप्नोति। आ उपसर्गपूर्वक 'अशू व्याप्तौ संघाते च धातु' से अच् एवं टाप् प्रत्यय करने पर आशा शब्द बनता है। जो सर्वत्र व्याप्त हो वह आशा दिशा है।

उर्वी सिञ्चन्- धरती को सींचते हुए।

उर्वी = धरती। सर्वसहा वसुमती वसुधोर्वी वसुंधरा। अमर 2.13 'ऊर्णुञ आच्छादने' धातु से उणादि सूत्र महति ह्रस्वश्च (1.31) से उ प्रत्यय, नुलोप ह्रस्व तथा वोतो गुणवचनात् (पा.4.1.44) से ङीष् प्रत्यय हुआ है। जो विस्तृत हो, सर्वत्र आच्छादित किए हो वह उर्वी है।

ऊर्णोति ऊर्णूयते वा। आचार्य यास्क ने पृथ्वी के इक्कीस नामों में उर्वी का उल्लेख किया है

(यास्क-निघण्टु 1.1.10)

नवजलधर: - नया बादल। नव शब्द जलधर का विशेषण है। जलधर के साथ मिलकर एक हो गया है। अद्य = आज।

कर्षकेन = कृषक के द्वारा ।'कृष-विलेखने धातु से' ण्वुल् प्रत्यय। तृतीया एकवचन। क्षेत्राजीव: कर्षकश्च कृषीवल ; *(अमर. 2.9.6)*

कायं चिन्वंल्लसति विशदं कल्पनानां निकायो,
राज्यभ्रंशे नियतिनिरतः पेलवो योऽजनिष्ट।
भाग्येनैषा कुटिलमतिना सर्वथोपेक्षिताऽपि,
सानायासं समरसजुषाऽहं सनाथीकृताऽस्मि॥

अन्वय– राज्यभ्रंशे यो (मम) कल्पनानां निकायो नियति निरतः पेलवो अजनिष्ट (सो भगवदागमने) विशदं कायं चिन्वन् लसति। एषा अहं कुटिलमतिना भाग्येन सर्वथा उपेक्षिता अपि सानायासं समरसजुषा सनाथीकृता अस्मि।

अनुवाद– राज्य के नाश होने पर जो मेरा कल्पना समूह नियतिवश क्षीण हो गया था (वही भगवान के आगमन पर) मानो विशद शरीर का निर्माण करता हुआ सुशोभित हो रहा है। (बढ़ रहा है) यह मैं (चन्दनबाला) कुटिल मति भाग्य के द्वारा सर्वथा उपेक्षित होती हुई भी अनायास ही समरस (समता) में स्थित भगवान के द्वारा अनाथ कर दी गई हूँ।

व्याख्या– जब सबकुछ–अहंकार, ममत्व, संपत्ति, परिवार, ऐश्वर्य आदि समाप्त हो जाता है तब परमेश्वर का दर्शन होता है। इस छन्द के माध्यम से महाप्रज्ञ ने भक्ति की उत्कृष्ट भूमिका का निरूपण किया है। पवित्र हृदय में ही प्रभु-प्रकाश का अवकाश होता है। जब धन जन था तो भगवान कहां आये। अनाथ हुई तब प्रभु स्वयं आए। सांसारिक धन काम नहीं आते हैं। नचिकेता कहता है– न वित्तेन तर्पनीयो मनुष्यः–कठोपनिषद् 1.1.27

सूत्रकृतांगकार का स्पष्ट निर्देश है–

वित्तं सोयरिया चेव सव्वमेतं न ता णए। *सूत्र 1.1.5*

राज्यभ्रंशे– अजनिष्ट।

चन्दनबाला के पिता दधिवाहन चम्पा नगरी के राजा थे। कौशाम्बी का शासक शतानीक ने आक्रमण कर दधिवाहन के राज्य को हड़प लिया था। इस ऐतिहासिक घटना की ओर 'राज्य भ्रंशे' पद के द्वारा महाकवि ने निर्देश किया है।

यो कल्पनानां निकाय : - जो कल्पनाओं का समूह। यहाँ निकाय शब्द समूह वाचक है। नि उपसर्गपूर्वक चि धातु से घञ् और कुत्व करने पर निकाय बनता है। महावीर चरितम् (1.50) में इसी अर्थ में निकाय शब्द का प्रयोग हुआ है। किसी वस्तु के विषय में उसके चित्र का, स्वरूप का हृदय में स्थिरीकरण कल्पना है, जो रूप देना, आकृति देना, स्थिर करना आदि का वाचक है। मानसिक चिन्तन को कल्पना कह सकते हैं।

नियति निरत: = नियति के वशीभूत। भाग्य को नियति कहा जाता है।

दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधि:। अमर. 1.4.28

नियतिर्नियमे दैवे—विश्व 69.159

नियम्यतेऽनया नियति। नियच्छति वा। निरत=आसक्त, वशीभूत। नियतनिरत: पद कल्पनां निकायो का विशेषण है। पेलवो अजनिष्ट- क्षीण हो गया था। पेलव=दुर्बल, पतला, क्षीण। अभिज्ञान शाकुन्तलम् 3.22 में ऐसा ही प्रयोग है।

अजनिष्ट- जनि प्रादुर्भावे धातु का लुङ्लकार में प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मने पद का रूप है। कुटिलमतिना भाग्येन--कुटिलमति भाग्य के द्वारा। कुटिलमति भाग्य का विशेषण है। तृतीया एकवचन। कुटिल=टेड़ा। टेढ़े का ग्यारह नाम अमरकोश (3.1.71) में निर्दिष्ट है। कुटिं कौटिल्यं लाति। जो कुटिलता को लाता है वह कुटिल है। आतोऽनुपसर्गे क: (पा.3.2.3) से क प्रत्यय। कुट-कैटिल्ये धातु से भी कुटिल पद का निर्माण होता है। मिथिलादयश्च (उणादि 1.57) से इलच् प्रत्यय के योग से कुटिल बनता है।

भाग्य-देखें नियति। 'भज सेवायाम्' धातु से ऋहलोर्ण्यत् (पा. 3.1.124) से ण्यत् चजो: (पा.7.3.52) से कुत्व।

समरसजुषा- समरस (समता धर्म) में जो लीन है उसके द्वारा। यह भगवान् महावीर का विशेषण है। समरस को पसन्द करने वाला समरसजुष् है। तृतीया एकवचन में समरसजुषा। समास के अन्त में जुष् का प्रयोग देखा जाता है। जुषी प्रीतिसेवनयो: धातु से क्विप् करने पर जुष् बनता है। जुष् का समासान्त प्रयोग भतृहरि के वैराग्यशतक (102) में देख सकते हैं।

क्रीडा कानन केलि कौतुक जुषा.।

इसमें उत्प्रेक्षा, परिकर, अनुप्रास, काव्यलिंग आदि अलंकार हैं।

उत्प्रेक्षा- मानो शरीर को बढ़ाते हुए सुशोभित हो रहा है।

परिकर- विशदं, नियतनिरतः, कुटिलमतिना आदि साभिप्राय विशेषण।

प्रसाद और माधुर्य गुण। उपचार वक्रता 'कल्पनानां निकायो' भावपदार्थ है जो सुशोभित हो रहा है- लसति। यह मूर्त्त का धर्म है। मूर्त्त के धर्म का अमूर्त्त पर आरोप।

(१३)

सर्वा सम्पद् विपदि विलयं निर्विरोधं जगाम,
व्यूढश्रद्धा महति सुकृतेऽद्यापि नूनं परीक्ष्या।
भक्त्यादेशा प्रकृतिकृपणाऽकिञ्चनैर्निर्विशेषा,
स्वामिन्नेषा विनयविनताऽस्मि प्रणामावशेषा।।

अन्वय- सर्वा सम्पद् विपदि निर्विरोधं विलयं जगाम। महति सुकृते व्यूढश्रद्धा अद्यापि नूनं परीक्ष्या। स्वामिन्! प्रकृतिकृपणा अकिञ्चनैः निर्विशेषा एषा भक्त्यादेशा विनयविनता प्रणामावशेषा अस्ति।

अनुवाद- जिसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति निर्विरोध रूप से विपत्ति में विलय को प्राप्त हो गई है। महान् पुण्य के उदय होने पर क्या आज भी दृढ़ श्रद्धालु परीक्ष्य है। स्वामी! प्रकृति कृपण, अकिंचन समान मुझसे केवल भक्ति की ही आशा की जा सकती है। मैं विनय विनत हूँ तथा मेरे पास प्रमाण मात्र ही अवशेष हैं।

व्याख्या- भक्त हृदय की तैयारी एवं भक्त की मनोदशा का सुन्दर चित्रण किया गया है । प्रथम पंक्ति को भक्ति का प्रथम सोपान कहा जा सकता है।

सर्वा- विलयं जगाम-इस पंक्ति से चन्दनबाला की पूर्वघटना संसूचित है। सांसारिक संबंधो के ह्रास एवं भौतिक संपदाओं के विनाश के बाद ही भक्ति का दीप प्रज्वलित होता है। अहंकार के रहते विनय का सद्भाव हो ही नहीं सकता है। विलय = विनाश, मृत्यु।

दिवसोऽनुमित्रमगम द्विलयम् - शिशुपालवध 9.17 विलयं नाशमगमत् - टीका

जगाम - गम् धातु लिट् लकार प्रथम पुरुष, एकवचन।

महति सुकृते- महान् सुकृत (सुकर्म) के उदय होने पर। सुकृत=पुण्य । स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः - अमर. 1.4.24

सुकृते पावने धर्मे–हैम० 2.375

सुष्ठु कृतम् सुकृतम्। प्रादि समास कुगति प्रादयः (पा.2.2.18) से हुआ है। सुकृतं तु शुभे पुण्ये क्लीबं सुविहिते त्रिषु. मे. 67.172

व्यूढश्रद्धा - दृढ़ श्रद्धा से युक्त, व्यापक श्रद्धा सम्पन्न। चन्दनबाला का विशेषण। व्यूढ का अर्थ विकसित, विशाल, दृढ़ आदि है। विशाल और दृढ़ के अर्थ में रघुवंश महाकाव्य 1.13 में व्यूढोरस्को. प्रयुक्त है। विशेषेणोह्यते स्म। वह-प्रापणे धातु से क्त प्रत्यय हुआ है। व्यूढ संहत विन्यस्ते पृथुलेऽप्यविधेयवत् (मे. 44.4)

नूनम् - अव्यय। असंदिग्ध रूप से, विश्वस्त रूप से, निश्चय ही, अवश्य निस्संदेह आदि अनेक अर्थ होते हैं। पूरी संभावना के अर्थ में भी इसका प्रयोग देखा जाता है । क्या आज भी सर्वस्वसमर्पिता चन्दन बाला की परीक्षा शेष है? - अद्यापि परीक्ष्या। यहाँ अर्थापत्ति अलंकार है।

भक्त्यादेशा - भक्ति का सलाह जिसे दिया जा सकता है । केवल भक्ति ही जिसके पास अवशिष्ट है । आदेश =आज्ञा, सलाह, निर्देश, उपदेश, नियम, संकेत।

भक्ति - सेवा, श्रद्धा, प्रभु में अनन्य समर्पण प्रभु के साथ एकनिष्ठभाव। विस्तृत जानकारी के लिये देखें डा. हरिशंकर पाण्डेय कृत 'भक्तामर सौरभ' नामक ग्रन्थ।

प्रकृति कृपणा- स्वभाव से दीन, विवेक रहित। प्रकृत्या कृपणा। विपत्ति की बेला में व्यक्ति विवेकहीन हो जाता है। वह संज्ञान से रहित हो जाता है। चन्दनबाला की भी यही दशा है। महाकवि कालिदास का यक्ष प्रकृति कृपण है-कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु। मेघदूत 1.5।

अकिंचनैः निर्विशेषा – दरिद्र के समान। विशेष अलगाव, विभेद का वाचक है। जो अलग नहीं है वह निर्विशेष है। चन्दनबाला अकिंचन हो चुकी है। अकिंचन= जिसके पास कुछ भी नहीं हो। नास्ति किंचन यस्य। अकिंचनः सन् प्रभवः स सम्पदाम्-कुमारसंभव 5.77।

स्वामिन् = स्वामी शब्द का सम्बोधन। भगवान् के लिए प्रयुक्त। स्वामी शब्द मालिक, अधिकारी, प्रभु राजा, पति, गुरु, विद्वान् आदि का वाचक है। स्वमस्यास्ति जिसके पास 'स्वम्' विद्यमान हो वह स्वामी है। 'स्वम्' शब्द दौलत, सम्पत्ति आदि का वाचक है।

विनयविनता – विनय से विनत। जहाँ पर श्रद्धा का साम्राज्य हो वही विनय की प्रसवभूमि है। विनय से झुकी हुई। चन्दना का विशेषण।

विनय=शालीनता, सदाचार, शिष्टाचार, अच्छा चाल–चलन।

प्रणामावशेषा–प्रणाम मात्र ही जिसके पास अवशिष्ट है। चन्दना का विशेषण। जन्म–जन्मान्तर से प्रतीक्षित भगवान द्वार पर आए हैं, भक्त के पास भगवान् को देने के लिए मात्र प्रणाम ही शेष है।

चंदना की यह स्थिति भागवतपुराण के गजेन्द्र से मिलती–जुलती है। प्राण–संकट में वह प्रभु को पुकारता है। प्रभु स्वयं आते हैं, लेकिन गजेन्द्र के पास कुछ नहीं है, केवल प्रणाम, नमस्कार मात्र ही अवशिष्ट है। इस श्लोक में विभावना, विशेषोक्ति, अर्थापत्ति और अर्थान्तरन्यास अलंकार हैं।

विभावना-कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति। परीक्षा उसकी होती है जो श्रद्धारहित है। श्रद्धारहितता परीक्षा का कारण है, जो उपलब्ध नहीं है।

विशेषोक्ति–कारण होने पर भी कार्य का नहीं होना। चंदना श्रद्धापूर्णा है उसकी परीक्षा नहीं होनी चाहिए। श्रद्धापूर्णता कारण है लेकिन 'परीक्षा का नहीं होना रूप कार्य अविद्यमान है।

अर्थापत्ति–अद्यापि नूनं परीक्ष्या। यहाँ कैमुतिक न्याय से अर्थापत्ति अलंकार है।

अर्थान्तरन्यास–सामान्य का विशेष से समर्थन। श्लोक के अन्तिम दो चरणों से पूर्व के दो चरणों का समर्थन किया गया है। संकर और संसृष्टि अलंकार

भी बन जाते हैं। माधुर्य गुण है। साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग से परिकरालंकार भी है। भक्ति एवं भक्त की मनोदशा की दृष्टि से यह श्लोक मननीय है।

(१४)

आशास्थानं त्वमसि भगवन्! स्त्रीजनानामपूर्वं,
त्वत्तो बुद्ध्वा स्वपदमुचितं स्त्रीजगद् भावि धन्यम्।
जिह्वां कृष्टवाऽसहनरथिकः काममत्तोऽम्बया मे,
दृष्टिं नीतोऽस्तमितनयनस्तत्र दीपस्त्वमेव॥

अन्वय—भगवन्! त्वम् स्त्रीजनानाम् अपूर्वं आशास्थानं असि। स्त्रीजगत् उचितम्स्वपदम् त्वत्तो बुद्ध्वा धन्यम् भावि। मे अम्बया जिह्वां कृष्टवा काममत्तो अस्तमितनयनः असहनरथिकः दृष्टिं नीतः। तत्र त्वमेव दीपः।

अनुवाद— भगवन्! तुम स्त्री जगत् (महिला-संसार) के लिए अपूर्व आशास्थान हो। स्त्री जगत् अपने उचित स्थान (अपनी उचित शक्ति) को जानकर धन्य होगा। मेरी माता (धारिणी) ने अपनी जिह्वा खींचकर कामोन्मत्त, अस्तमितनयन (अज्ञानी, अविवेकी) और क्रूर रथिक की आँखें (ज्ञाननेत्र) खोल दी थी। उस समय आप ही दीप थे (मेरी माता के लिए प्रकाश-स्तम्भ थे)।

व्याख्या— यहाँ भगवान् महावीर की महत्ता का निर्देश किया गया है। स्त्रीजनों के लिए आप ही अपूर्व आशास्थान हैं। व्यतिरेकालंकार।

भगवन्—महावीर के लिए सम्बोधन। भगवान् शव्द का संबोधनात्मक प्रयोग है। जो भग को धारण करे वह भगवान है। भग की परिभाषा है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।

ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीर्यते॥

इति स्मृतेर्भगः षड्विधमैश्वर्यं सोऽस्यास्तीति भगवान्। देखें श्रीमद्भागवत की स्तुतियों का समीक्षात्मक अध्ययन—डा. हरिशंकर पाण्डेय, पृ. 13।

विशेषावश्यक भाष्य (1048) में लिखा है।

इस्सरियरूवसिरिजसधम्म पयत्तामया भगाभिक्खा। वर्धमान महावीर ऐश्वर्य, ज्ञान, वैराग्य यश आदि से परिपूर्ण थे इसलिए उन्हें भगवान् कहा गया। इस पद में अकिंचन भक्त में अतुल सामर्थ्य उत्पन्न करने की शक्ति है।

त्वम् स्त्रीजनानाम् अपूर्वम् आशास्थानम्—तुम स्त्रियों के लिए, महिला जगत् के लिए अपूर्व आशास्थान हो। उपचार वक्रता का सुन्दर उदाहरण है। मूर्त्त के धर्म—'स्थानत्व' का अमूर्त्त आशा पर आरोप है।

अपूर्वम्=अद्वितीय। संसार में अभी तक आपके जैसा कोई 'आशास्थान' नहीं था—ऐसा अपूर्वम् पद से अभिव्यंजित हो रहा है। बिल्कुलनया, अनोखा, असाधारण। अपूर्वमिदं नाटकम्—अभिज्ञानशाकुन्तल।

आशास्थानम्—आशा के स्थान

आशाः—उम्मिद, तृष्णा (आशरा)। आ समन्तादश्नुत्ते। आ उपसर्ग के साथ अशू-व्याप्तौ धातु से अच्। स्त्रीलिंग में आशा। आशा तृष्णापि—अमरकोश 3.3.216

आशातृष्णायाम्—हैम 2.556

स्थान=जगह, स्थल, आश्रय, आधार।

त्वत्तो—भावि=आपके द्वारा अपनी उचित सामर्थ्य को जानकर स्त्री जगत् धन्य हो जाएगा।

स्त्री=महिला। स्त्यै शब्दसंघातयोः (भ्वादिगण) धातु से ड्रट् और ङीप्।

स्त्यायति गर्भोऽस्याम्। स्त्यायेते शुक्रशोणिते यस्याम्।

भावि—भू धातु से इनि और णिच् प्रत्यय। भविष्य, होगा। भविष्यति के अर्थ में भावि का प्रयोग हुआ है। रघुवंश (18.38) में ऐसा ही प्रयोग है—लोकेन भावी.।

भावी भविष्यति—मल्लिनाथ।

तत्र त्वमेव दीपः = जहाँ पर अपना प्राण त्यागकर माता ने कामोन्मत्त दुष्ट रथिक की आँखें खोली, प्रबोध दिया वहाँ आप ही एकमात्र दीप थे, प्रकाशक थे। भक्तामर स्तोत्र में भी भगवान् के लिए दीप शब्द का प्रयोग हुआ है।

इस श्लोक में काव्यलिंग, परिकर, उदात्त, रूपक आदि अलंकार हैं। प्रसाद, माधुर्य और उदात्त गुणों का लावण्य अपूर्व है। भगवान् का स्वरूप विवृणित है।

(१५)

चण्डश्चण्डं गलमुपनतस्त्वां दशन् कौशिकोऽपि,
कोपाटोपं विपुलमुपयन् मिश्रितं विस्मयेन।
संज्ञां लेभे प्रशमफलितां यन् महान् सेव्यमानः,
प्रत्यासत्त्या भवति निखिलाऽभीष्टसिद्धेर्निमित्तम्॥

अन्वय—चन्डः कौशिकः त्वाम् गलम् उपनतः कोपाटोपम् विपुलम् चण्डम् दशन् विस्मयेन मिश्रितम् उपयन् प्रशमफलितां संज्ञां लेभे। यत् महान् सेव्यमानः प्रत्यसत्त्या निखिला अभीष्टसिद्धेर्निमित्तम् भवति।

अनुवाद—चण्डकौशिक सर्प (दृष्टि विष सर्प) आपके गले को प्राप्त कर क्रोधाविष्ट होकर विस्तृत एवं भयंकर फनों को फैलाकर डँसते हुए विस्मय से युक्त हो गया। (उसे आश्चर्य हुआ कि दंश के बाद कोई पानी नहीं माँगता, भगवान् अडोल कैसे हैं?) (भगवान् की समत्व स्थिति को देखकर) सर्प को प्रशमफल से युक्त चेतना की प्राप्ति हुई। क्योंकि महान् व्यक्तियों की सेवा सद्यः सम्पूर्ण अभीष्ट सिद्धि के लिए निमित्त कारण बन जाती है।

व्याख्या— यह श्लोक महत्त्वपूर्ण है। भगवान् के साधना कालीन जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना का चित्रण है। सर्पावेष्टित भगवान् की प्रशमावस्था का बिम्ब बड़ा सुन्दर बना है। चण्डकौशिक की कथा आवश्यक चूर्णि, आवश्यक मलधारीयावृति, महावीर चरियं (नेमिचन्द्र) महावीरचरियं (गुणचन्द्र) चउप्पन्नमहापुरिसचरियं आदि ग्रंथों में उपलब्ध होती है।

भगवान् चण्डकौशिक की बाँबी पर ध्यान लगाकर खड़े हो गए। चण्डकौशिक विष उगलते हुए बाहर निकला। एक फुंकार से सारा वायुमंडल विषाक्त हो गया। कीट-पतंग ढेर हो गए। महावीर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, अविचल खड़े रहे। फुंकार की निष्फलता को देखकर क्रोधाविष्ट होकर महाश्रमण के पैरों में भयंकर दंशप्रहार किया। भगवान् अविचल रहे। तीन बार दंश प्रहार की निष्फलता के बाद चण्डकौशिक घबराया। भगवान् की कृपा दृष्टि पड़ी। नागराज शांत हो गया। पूर्व जन्म की स्मृति हुई। पूर्णतया भगवान् का शरणापन्न हुआ। आजीवन अनशन व्रत धारण कर आयु पूर्ण कर आठवें स्वर्ग में उत्पन्न हुआ (आवश्यकचूर्णि-279)। भगवान् का सान्निध्य, उनकी कृपादृष्टि प्राप्त होते ही चण्डकौशिक की जीवनशैली ही बदल गयी। धन्य-धन्य हो गया।

कोपाटोपम्=कोपेन आटोपम्। कोप से परिव्याप्त, क्रोधाविष्ट। क्रोध से फैला हुआ, विस्तृत।

आटोप = घमंड के साथ, सूजन फैलाव, विस्तार। द्रष्टव्य आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 143।

इस श्लोक में सुन्दर सूक्ति का विनियोजन हुआ है, सत्संगति के प्रभाव का वर्णन है। श्रेष्ठ संगति से नीच भी उत्कृष्ट बन जाता है।-यन् महान् — भवति।

यहाँ पर अर्थान्तरन्यास अलंकार है—यन् महान् सेव्यमानः। काव्यलिंग, अनुप्रास भी है।

संज्ञां लेभे—काव्यलिंग।

मन्दाक्रान्ता छन्द की रमणीयता विद्यमान है। ओज गुण की छटा अवलोकनीय है। ट वर्गीय ध्वनियों के आधिक्य से कवि सर्प की भयंकरता को संसूचित करता है।

ओजगुण—जिस काव्य-रचना के श्रवण से चित्त का विस्तार तथा मन में तेज की उत्पत्ति हो उसे ओज कहते हैं। इसकी अभिव्यक्ति कठोर तथा परुषवर्णों (ट वर्ग) द्वित्व, संयुक्त, रेफ तथा सामासिक पदों से होती है। इसका प्रयोग वीर, वीभत्स तथा रौद्र रसों में होता है।

दीप्त्यात्म विस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः।
वीभत्स रौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च॥

काव्यप्रकाश 9.70

(१६)

अत्राणानां त्वमसि शरणं त्राहि मां त्राहि तायिन्,
गृह्णीस्वैतान् सकरुणदृशा नीरसान् सूर्पमाषान्।
अन्तःसाराः सहजसरसा यच्च पश्यन्ति गूढ़ा—
नन्तर्भावान् सरसमरसं जातु नो वस्तुजातम्।।

अन्वय– तायिन्! त्वम् अत्राणानां शरणमसि। त्राहि मां त्राहि। सकरुण दृशा एतान् नीरसान् सूर्पमाषान् गृह्णीस्व। यत् सहजसरसा अन्तःसारा अन्तर्भावान् पश्यन्ति नो जातु सरसमरसम् वस्तु जातम्।

अनुवाद– हे त्रिभुवन रक्षक! तुम अशरणों (अत्राणों) के शरण हो। मेरी रक्षा करो। मेरे ऊपर कृपा दृष्टि के साथ छाज में रखे हुए निरस उड़द को स्वीकार करो। क्योंकि जो लोग सहज रूप से सरस होते हैं और अन्तःकरण (आत्मा) में ही सारत्व का अनुभव करते हैं, वे हृदय के भाव को देखते है, सरस या निरस वस्तु (बाह्य पदार्थ) को सर्वथा नहीं देखते हैं।

व्याख्या– प्रस्तुत श्लोक में भगवान् के भक्तरमणीय, भक्त वत्सल–स्वरूप का चित्रण किया गया है।

काव्यलिंग,अनुप्रास तथा अर्थान्तरन्यास एवं परिकर अलंकार हैं।

तुम सबके रक्षक हो इसलिए मेरी रक्षा करो–काव्य०। सकरुणदृशा एतान् सूर्पमाषान्–अनुप्रास।

यत्–वस्तु जातम्–अर्थान्तरन्यास। अन्तःसाराः सहजसरसा–परिकर अलंकार।

जातु–अव्यय। कभी, सर्वथा, कदाचित् आदि अर्थों में प्रस्तुत होता है। यहाँ सर्वथा अर्थ अभिव्यंजित है। नो जातु = सर्वथा नहीं।

तायिन्–भ्वादिगणीय तायृ–सन्तान पालनयो धातु से इन् प्रत्यय से निष्पन्न। संरक्षक, पालक।

(१७)

इष्टे शश्वन् निवसति जने मन्दतामेति हर्ष–
स्तस्यानिष्टेऽप्यनुभवलवो नैव सञ्चेतितः स्यात्।
इष्टेऽनिष्टाद् व्रजति सहसा जायते तत्प्रकर्षो,
लब्ध्वाऽर्हन्तं प्रतिनिधिरिवाद्याऽऽबभौ सम्मदानाम्॥

अन्वय– शश्वन् जने इष्टे निवसति तस्य हर्षः मन्दताम् एति। अनिष्टे नैव अनुभव-लवो संचेतितः स्यात्। अनिष्टात् इष्टे सहसा व्रजति तत् प्रकर्षो जायते। अद्य अर्हन्तं लब्ध्वा सम्मदानाम् प्रतिनिधिरिव आ बभौ।

अनुवाद– मनुष्य को हमेशा इष्ट में निवास करने पर (सुखी जीवन होने पर) उसका हर्ष मन्द पड़ जाता है। अनिष्ट (दुःख) में रहने पर हर्ष का लेश मात्र अनुभव भी हृदय में नहीं होता। अनिष्ट (दुःख) से व्यक्ति जब सहसा इष्ट (सुख) में प्रवेश करता है तब उसे प्रकर्ष (अपूर्व हर्ष) उत्पन्न होता है। आज (चन्दनबाला) अर्हन्त भगवान् महावीर को प्राप्त कर मानो वह आनन्द की प्रतिनिधि बन गई है।

व्याख्या– सुख और दुःख सृष्टि का नियम है। मनुष्य कभी सुख से दुःख की तो कमी दुःख से सुख की ओर जाता है। सुख से दुःख की ओर जाना अति भयंकर होता है -

सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति॥

मृच्छकटिक 1.10

लेकिन दुःख से सुख की प्राप्ति, प्रकर्ष की उपलब्धि एवं अत्यानन्ददायक होती है। अनिवर्चनीय सुख की प्राप्ति होती है। चन्दनबाला संसार दुःख से त्रस्त थी, प्रभु को प्राप्त कर कृत्य-कृत्य हो गयी।

अर्थान्तरन्यास, स्वाभावोक्ति, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग हुआ है। प्रथम तीन सामान्य का समर्थन चौथी पंक्ति के द्वारा किया गया है।

शश्वन्-अव्यय है। निम्नलिखित अर्थों में इसका प्रयोग होता है - लगातार, अनादि काल से, सदा के लिए, सतत्, बार-बार, सदैव।

इष्टे = सुख में। इष्ट शब्द का सप्तमी एकवचन इष। इच्छायाम् (तुदादि) धातु से क्त प्रत्यय हुआ है। कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सितम्-

अमर 2.9.57

इष्टमाशंसितेऽपि स्यात्पूजिते प्रेयसि त्रिषु-विश्वकोश 33.2

मेघदूत में इष्ट शब्द का सूक्तिगत प्रयोग है - इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति 2.52

सम्मदानाम्-सम्मद शब्द का षष्ठी बहुवचन, सम्मद=अतिहर्ष, खुशी, प्रसन्नता। शिशुपाल बध महाकाव्य (15.17) में हर्ष अर्थ में प्रयुक्त है-

रणसंमदोदय.। रणेन रणारम्भेण यः संमदो हर्षः-टीकाकार। सम् उपसर्ग पूर्वक मदी हर्षे धातु से अप् प्रत्यय के योग से निष्पन्न।

(१८)

भिक्षां लब्धुं प्रसृतकरयोः सम्प्रतीक्षापटुभ्यां,
तच्चक्षुर्भ्यां हसितमियताऽपूर्वहर्षोदयेन।
येनाऽश्रूणामवलिरभवत् केवलं नैव मृष्टा,
तेषां किन्तु प्रसरनिपुणा चाप्युपादानलेखा॥

अन्वय- भिक्षा लब्धुं प्रसृतकरयोः अपूर्वहर्षोदयेन तत् सम्प्रतीक्षापटुभ्याम् चक्षुभ्याम् हसितमियता। येन नैव अश्रूणामवलिः मृष्टा अभवत् किंतु तेषां प्रसरविपुणा उपादानलेखा अपि (मृष्टा अभवत्)।

अनुवाद- भिक्षा लेने के लिए भगवान् महावीर द्वारा हाथों के फैलाये जाने पर अपूर्व हर्षोदय के कारण चन्दनबाला की प्रतिक्षापटु आँखें आनन्द से युक्त हो गयीं (खिल गईं)। जिस कारण से न केवल आँसुओं की पंक्ति साफ हो गई (समाप्त हो गयी) अपितु प्रसार में निपुण उपादान रेखा (आँसुओं के चिन्ह) भी समाप्त हो गये।

व्याख्या- मन:स्थिति का सुन्दर विश्लेषण कवि ने किया है। दु:ख के दिन में आँसू अविरल थे। भगवान् द्वारा भिक्षा ग्रहण करने के लिए हाथ फैलाने पर चन्दनबाला प्रसन्न हो गयी। आँसू समाप्त हो गये। इस श्लोक में काव्यलिंगा लंकार का सुन्दर उदाहरण बन पड़ा है। आनन्दपूरित चन्दन बाला का रूप निखर गया है, जैसे ग्रीष्म से झुलसा हुआ वनस्पति संसार बरसात की प्रथम फुहार से लहलहा जाता है। चन्दनबाला के मुख-सौंदर्य अनाविल आँखों का रूप लावण्य अत्युत्तम है।

भिक्षां लब्धुं-हसितमियता। भगवान् की प्रतिक्षा में उसकी आंखें कब से अधीर हो रही थीं, लेकिन आज मनोवांक्षित की पूर्ति पर खिल गयी। हर्ष का मनोरम बिम्ब बना है। हसितम्=खिला हुआ, विकसित, प्रसन्न। प्रतीक्षारत आँखें खिल गईं।

(१९)

श्रद्धाभाजां भवति मसृणं मानसं यावदेव,
श्रद्धापात्रैः प्रचरति समं रूक्षभावोऽपि तावान्।
अम्भोवाहो घनरसनतः स्नेहपूर्णेक्षणानि,
ग्रीष्मार्तानामचिरमकृपं लङ्घते साशयानि॥

अन्वय- यावदेव श्रद्धाभाजाम् मानसं मसृणं भवति तावान् श्रद्धापात्रैः समं रूक्षभावोऽपि प्रचरति। घनरसनतः अम्भोवाहो ग्रीष्मार्त्तानाम् साशयानि स्नेहपूर्णेक्षणानि अकृपम् अचिरम् लंघते।

अनुवाद- जितना ही श्रद्धायुक्त (श्रद्धालु) जनों का मन (हृदय) कोमल होता है उतना ही श्रद्धा पात्र व्यक्तियों के साथ रूक्षता का भाव बढ़ता है। भरपूर जल से झुका हुआ मेघ ग्रीष्मार्त लोगों के साभिप्राय (आशायुक्त) एवं स्नेह पूर्ण नेत्र को निर्दयतापूर्वक शीघ्र ही लाँघ जाता है (ग्रीष्मार्तो की इच्छा की पूर्ति नहीं करता है।)

व्याख्या- दृष्टांत अलंकार के द्वारा कवि ने श्रद्धालु और श्रद्धापात्र व्यक्ति के स्वरूप को उद्घाटित करता है। इसमें यह भी अभिव्यंजित है कि देश, काल, समय, भाव आदि सभी उपादानों एवं निमित्तों के पूर्ति के बिना कार्य सम्पन्न नहीं होता है। मेघ का दृष्टान्त दिया गया है। उपमेय वाक्य उपमान वाक्य तथा उनके साधारण धर्मों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है वह दृष्टान्त अलंकार होता है- दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्-काव्यप्रकाश 10.102

श्रद्धाभाजाम्-श्रद्धाभाज् शब्द का षष्ठी बहुवचन। श्रद्धालु। भक्त का विशेषण।

मसृणम्-कोमल। चिक्कणं मसृणं स्निग्धम्—अमरकोश 2.9.46

मसृणोऽकर्कशे स्निग्धे-विश्वकोश 51.45 मेदिनी 50.70।

मसृण शब्द का साभिप्राय प्रयोग है। विशेषण एवं पर्याय वक्रता का उत्कृष्ट उदाहरण है। मसी परिणामे धातु से बाहुलकात् ऋण प्रत्यय करने से मसृण बनता है। जिसके क्रोध अहंकार आदि भाव परिणमित हो गए हैं वह मसृण है। सम पूर्वक ऋणु गतौ से क प्रत्यय तथा पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (पा. 6.3.109) से सम् का वर्णविपर्यय-मस्+ऋण+क(अ) मसृण बना है। जो सम्यक् रूप से अपने सहज भाव में गमन करने लगता है वह मसृण है। भक्त हृदय का सुन्दर विशेषण।

घनरसनतः = अधिक जल से झुका हुआ अम्भोवाहो का विशेषण अम्भोवाह= मेघ।

साशयानि स्नेहपूर्णेक्षणानि - आशय युक्त स्नेहपूर्ण नेत्रों को। ग्रीष्म काल में ग्रीष्म से पीड़ित जीव जाति, मेघ की तरफ स्नेह पूर्ण एवं आशा से कि मेघ जल देगा, आँखें लगाए रहती हैं, लेकिन वह मेघ कहाँ इच्छापूर्ति करता है।

जैसे—मेघ पीड़ित जनों की पीड़ा को दूर किए बिना आगे निकल जाता है वैसे ही श्रद्धापात्र श्रद्धालुओं की इच्छापूर्ति किए बिना आगे निकल जाते हैं।

अचिरम् - शीघ्र, जल्दी, त्वरित रूप से

(२०)

किञ्चिन्नोक्तं न खलु मृदुलाऽपैक्षि तद्भावनाऽपि,
श्रद्धाविष्टं नयनमनसोश्चापलं नाप्यलोकि।
भिक्षादानोच्चलितकरयोर्नानुकम्पाऽप्यकारि,
देवार्येण प्रतिगतमिति द्वारदेशोपकण्ठम्॥

अन्वय – किञ्चित् न उक्तम्। न खलु तद् मृदुला भावना अपि अपैक्षि। श्रद्धाविष्टं नयनमनसोश्चापलं अपि न अलोकि। भिक्षादानोच्चलितकरयो: न अनुकम्पा अपि अकारि। देवार्येण द्वारदेशोपकण्ठम् प्रतिगतम् इति।

अनुवाद– भगवान् महावीर ने चंदनबाला से कुछ न कहा। न उसकी मृदुल भावना को आँका। श्रद्धा से युक्त आँख और मन की चंचलता को भी नहीं देखा। न ही भिक्षा देने के लिये आगे बढ़े हुए हाथों के ऊपर कृपा की। (भिक्षा लिए बिना भगवान्) द्वार के निकट से लौट गए (क्योंकि चंदन बाला के आँखों में आँसू नहीं थे)।

व्याख्या– भगवान् ने विशिष्ट संकल्पों को धारण किया था (द्रष्टव्य श्लोक-8) जिनमें आँसुओं की विद्यमानता भी एक संकल्प था।

चंदनबाला के आखों में आँसू नहीं थे इसलिए भगवान् लौट गए। आशा महल देखते ही देखते ढह गया। इसमें स्वभावोक्ति अलंकार है।

(२१)

वाणी वक्त्रान्न च बहिरगाद् योजितौ नापि पाणी,
पाञ्चालीवाऽनुभवविकला न क्रियां काञ्चिदार्हत्।
सर्वैरङ्गैः सपदि युगपन्नीरवं स्तब्धताऽऽप्ता,
वाहोऽश्रूणामविरलमभूत् केवलं जीवनाङ्कः॥

अन्वय- वक्त्रात् वाणी बहिः न अगात्। न च पाणी अपि योजितौ। पाञ्चालीवानुभवविकला न कांचित् क्रियाम् आर्हत्। सर्वैरङ्गैः युगपत् नीरवं स्तब्धताप्ता। अश्रूणाम् वाहो अविरलम् अभूत् केवलम् जीवनाङ्कः।

अनुवाद- (भिक्षा ग्रहण किए बिना भगवान् के लौट जाने पर चन्दन बाला की) वाणी मुख से बाहर नहीं निकल पायी और न ही हाथ ही जुड़ पाए। वह गुड़िया के समान अनुभव विकल हो गयी। आँसुओं का प्रवाह अविरल हो गया (झर-झर बहने लगा)। केवल आँसुओं का प्रवाह ही जीवन का चिन्ह था।

व्याख्या- दु:ख के बाद सुखानुभूति अत्यन्त श्रेयस्कर एवं प्रिय होती लेकिन सुख के बाद मिला हुआ दु:ख कितना भयावह होता है - इसका चित्रण महाकवि ने प्रस्तुत श्लोक में किया है। भगवान् द्वारा इच्छापूर्ति किए बिना लौट जाने के बाद चन्दनबाला की क्या दशा होती है - इसका चित्रण सुन्दर हुआ है। सारी वृत्तियाँ स्थगित हो गईं। स्तंभित होने पर सारी बाह्य वृत्तियां समाप्त हो जाती हैं। आचार्य भरत ने स्तब्धता को स्तंभ कहा है। शरीर में जड़ता का आना चेष्टा का निरोध स्तंभ है। यह अवस्था भय, शोक, विवाद, विस्मय आदि के कारण उत्पन्न होती है—हर्ष भयशोक विस्मयविदषारोषादिसंभवः स्तंभ:-नाट्यशास्त्र 7.96 स्तम्भस्चेष्टाप्रतिघातोहर्षभयादिभि:

साहित्यदर्पण 3.136

इस श्लोक में अनुप्रास, उपमा, काव्यलिंग आदि अलंकार हैं। संकर एवं संसृष्टि का भी सुन्दर संयोजन हुआ है।

वाणी वक्त्रात् न बहिरगात्- भगवान् के लौटने से उत्पन्न शोक के कारण वाणी बाहर नहीं निकल पायी।

कारण-कार्यभाव होने के कारण काव्यलिंग अलंकार है। अनेक वर्णों की आवृति से अनुप्रास है। काव्यलिंग और अनुप्रास का नीर क्षीरन्याय से उपस्थिति है। इसलिए संकर अलंकार है।

पाञ्चालीवानुभवविकला–गुड़िया के समान अनुभव विकल। बहुत सुन्दर उपमान (गुड़िया) का प्रयोग।

वाणी=शब्द, ध्वनि, भाषा। ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वति अमरकोश (1.6.1)

वण्यते इति वाणी। वण शब्दे (भ्वादिगण) धातु से इञ् और ङीष् प्रत्यय करने पर बनता है।

वक्त्रात्=मुख से। वक्त्र शब्द का पंचमी एकवचन। वक्ति अनेन। वच् धातु से करण में ष्ट्रन् प्रत्यय करने पर वक्त्र बना। मुख, चेहरा आदि का वाचक है। प्रस्तुत संदर्भ में मुख अर्थ है।

अंक=चिन्ह, लक्षण।

(२२)

मूर्च्छां प्राप्य क्षणमिह पुनर्लब्धचित्तोदयेव,
दिक्षु भ्रान्ता दशसु करुणं साशयं सा निदध्यौ।
नाश्वासाय व्यथितहृदया प्राप कश्चिद् द्वितीयं,
सद्यः सिद्धयै स्फुरितजवनाऽऽमन्त्र्य वाष्पानुवाच॥

अव्यय– इह क्षणम् मूर्च्छां प्राप्य पुनः लब्धचितोदया इव दशसु दिक्षु भ्रान्ता–सा साशयं करुणं निदध्यौ। व्यथितहृदया कञ्चिद् द्वितीयं आश्वासाय न प्राप। सद्यः सिद्धयै स्फुरित जवना वाष्पान् आमन्त्रय उवाच।

अनुवाद– यहां पर (इस अवस्था में) क्षण भर मूर्च्छा को प्राप्त कर पुनः चेतना युक्त जैसी हो गयी। दशों दिशाओं में भ्रान्त (वह चन्दनबाला) ने आशा

और करुणापूर्वक देखा। वह व्यथित हृदय आश्वासन के लिए किसी दूसरे को प्राप्त नहीं कर सकी। सद्यः सिद्धि के लिए स्फुरित तेज से युक्त होकर उस चन्दनबाला ने आँसुओं को सम्बोधित कर कहा।

व्याख्या- भगवद्विरह जन्य मूर्च्छा का चित्रण है। प्रिय प्रभु आए परन्तु इच्छापूर्ति के बिना लौट गए – ऐसी अवस्था देखकर चन्दनबाला मूर्च्छित हो गयी पुनः संज्ञा प्राप्त की। जब विपत्ति की वेला आती है तो दरवाजे बन्द मिलते हैं। चन्दना को इस अवस्था में कोई सहाय्य नहीं मिला। अन्त में अपनी ही शक्ति पर जागरित होती है, कार्य सिद्धि के लिए पुनः उद्यत होती है। वही आदमी सफल होता है जो विपद्वेला में अडोल, स्थिर एवं जागरूक होकर अपनी आत्मशक्ति से लक्ष्य के लिए यत्न करता रहता है। कातर एवं उद्विग्न होने से असफलता ही हाथ लगती है। कालिदास का यक्ष अपनी प्रियतमा को आत्मावलम्ब देने के लिए संदेश भेजता है। वह मेघ से कहता है कि मेरी प्रियतमा से कहना—

नन्वात्मानं बहुविगणयन्नात्मनैवावलम्बे,

तत्कल्याणि! त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम्। मेघदूत 2.4

इह क्षणम् मूर्च्छां प्राप्य=इस दशा में क्षणभर मूर्च्छा को प्राप्त कर। इह = इस दशा में, यहाँ पर। क्षणम्=क्षणभर।

मूर्च्छा=बेहोशी, संज्ञाहीनता, मोह। मूर्च्छा तु कश्मलं मोहोऽपि–अमर 2.8.109। मूर्च्छा मोहादौ। मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः धातु से अ प्रत्यय करने पर तथा उपधा को दीर्घ करने पर मूर्च्छा बनता है। भारतीय आचार्यों ने, काव्यशास्त्रियों ने इसे मोह कहा है। भरतमुनि के अनुसार देवोपघात, भय, आवेग, पूर्ववैरस्मरण आदि विभावों से मूर्च्छा की उत्पत्ति होती है। (ना. शास्त्र 7.46) धनंजय ने दुःख, भीति, आवेश, अनुचिन्तन आदि से मूर्च्छा की उत्पत्ति को स्वीकार है। (दशरूपक 4.26)।

पुनः लब्धचित्तोदया=पुनः चैतन्य को प्राप्तकर, संज्ञा को प्राप्तकर

दशसु दिक्षु भ्रान्ता–दशों दिशाओं में भ्रान्त।

भ्रान्ता=घबराई हुई। चन्दनबाला का विशेषण।

साशयं करुणं निदध्यौ-आशा और करुणा से परिपूर्ण होकर देखा। निदध्यौ=देखा।

नि उपसर्गपूर्वक ध्यै चिन्तायाम् धातु का लिट् लकार प्रथम पुरुष एक-वचन में 'निदध्यौ' बना है।

स्फुरित जवना-स्फुरित तेज से परिपूर्ण। चन्दनबाला का विशेषण। जवन शब्द के स्त्रीलिंग में जवना।

वाष्पान्=आँसुओं को। वाष्प=आँसू, भाप। (वाष्पमूष्माश्रु-अमरकोश 3.3.130)

भ्वादिगणीय ओवै-शोषणे(वै) धातु से वाष्प बनता है। वा गतिबन्धनयो: धातु से भी इसकी सिद्धि मानी जाती है।

खष्प शिल्प शष्द वाष्प रूप पर्पतल्पा: (पा. 5.315) से निपातन से सिद्ध होता है। बाध धातु से सिद्धान्त कौमुदी कारने माना है बाधते ष:, घत्र तथा प प्रत्यय-वाष्प अथवा बाष्प बनता है। इस श्लोक में काव्यलिंग, पर्याय आदि अलंकार हैं।

चन्दना के अनेक रूपों-मूर्च्छित, दिग्भ्रमित एवं आँसुओं को पुकारती हुई आदि का चित्रण है इसलिए पर्याय अलंकार है।

(२३)

व्राष्पा:! आशु व्रजत नयतेक्षध्वमेष प्रयाति,
साक्षात्प्राप्त: परिचितवृषै: प्रापणीयस्तपस्वी।
सार्थश्चैकोऽनुभवति विपद्भारमोक्षञ्च युष्मां-
ल्लब्ध्वा नान्यो भवति शरणं तत्र यूयं सहाया:॥

अन्वय- वाष्पा: आशु व्रजत। नयतेक्षध्वम् एष तपस्वी प्रयाति। साक्षात्प्राप्त: परिचितवृषै: प्रापणीय:। युष्मान् सार्थं लब्ध्वा एको विपद्भारमोक्षञ्च (प्राप्नोति) यत्र अन्यो शरणं न भवति तत्र यूयं सहाया:।

अनुवाद–आँसुओं! शीघ्र जाओ। देखो यह तपस्वी जा रहा है। मुझे साक्षात् प्राप्त हुआ था। जो संचित सत्कर्मों से प्राप्त होने योग्य है। आँसुओं! तुम्हारे समूह को (तुम्हें) प्राप्त कर अकेला व्यक्ति विपत्ति के भार से मुक्त हो जाता है। जहां पर अन्य कोई शरण नहीं होता वहाँ तुम्हीं सहायक होते हो।

व्याख्या– यहाँ आँसू की शक्ति एवं सामर्थ्य तथा भगवान् महावीर का स्वरूप वर्णित है। आँसुओं के द्वारा दौत्य कार्य कवि कल्पना का अनूठापन है। प्राचीन काल से ही अनेक कवियों ने दूतकाव्य की रचना की है। ऋग्वेद में रात्रि के द्वारा दौत्य कार्य कराने का उल्लेख मिलता है। वाल्मीकी रामायण में हनुमान रामदूत के रूप में सीता के पास संदेश लेकर जाते हैं। कालिदास के मेघदूत में नायक यक्ष अपनी प्रियतमा के पास मेघ को दूत बनाकर अपने संदेश प्रेषित करता है। जैन परम्परा में भी अनेक ग्रंथ विरचित किए गए जिसमें दौत्यकार्य का वर्णन है। सांगणपुत्र कवि विक्रम कृत (13वीं शती) नेमिदूत में नायक की ओर से नायिका के पास ब्राह्मण को दूत के रूप में भेजा गया है। चारित्रसुन्दरगणिकृत शीलदूत में शील जैसे भावात्मक तत्त्व को दूत बनाया गया है। भट्टारक वादिचन्द्र (7वीं शती) के पवनदूत में पवन दूत के रूप में वर्णित है। आचार्य महाप्रज्ञ ने आँसू को दूत बनाया है।

जो कार्य महाशक्ति सम्पन्न व्यक्ति नहीं कर सकता उस कार्य को आँसू सहजतया सम्पन्न कर देते हैं। उनकी पवित्रता उनका सामर्थ्य, जगत्प्रसिद्ध है।

परिचितवृषैः प्रापणीयः — वह तपस्वी संचित सुकर्मों, पुण्यकर्मों से ही प्राप्तव्य है। जब शुभ, परम शुभ का उदय होता है तभी प्रभु का आगमन होता है।

परिचितवृषैः — संचित पुण्यकर्मों के द्वारा।

परिचित - परि उपसर्गपूर्वक चिञ् चयने धातु से क्त प्रत्यय। एकत्रित किया हुआ, इकट्ठा किया हुआ, संचित किया हुआ।

वृष=गुण, सत्कर्म, पुण्यकार्य।

न सदगतिः स्याद् वृषवर्जितानाम्–कीर्ति कौमुदी 9.62

सार्थम् - साथ, समूह। आँसुओं के साथ को प्राप्त कर दुःखी व्यक्ति दुःखमुक्त होता है, हृदय की कलुषता समाप्त हो जाती है।

इस श्लोक में पर्याय, परिकर, काव्यलिंग आदि अलंकार हैं। एक भगवान् के अनेक रूपों - जाते हुए, पुण्यकर्मों से प्राप्त, तपस्वी आदि का चित्रण हुआ है। इसलिए पर्याय अलंकार है - एकं क्रमेणानेकस्मिन्पर्यायः काव्यप्रकाश 10.117।

(२४)

चित्रा शक्तिः सकलविदिता हन्त युष्मासु भाति,
रोद्धुं यान्नाक्षमत पृतना नापि कुन्ताग्रमुग्रम्।
खातं गर्ता गहनगहनं पर्वतश्चापगाऽपि,
मग्नाः सद्यो बहति विरलं तेऽपि युष्मत्प्रवाहे॥

अन्वय- हन्त युष्मासु चित्राशक्तिः भाति सकल विदिता यान् न पृतना न उग्रम् कुन्ताग्रम् अपि न गहनगहनम् खातं गर्ता पर्वतः आपगा अपि च रोद्धुं न क्षमत। ते अपि युष्मत् विरलं प्रवाहे सद्यो मग्नाः बहति।

अनुवाद- आश्चर्य ! आँसुओं! तुम्हारे अन्दर अद्भुत शक्ति सुशोभित है (विद्यमान है) यह सभी जानते हैं। जिनको न सेना, न उग्र अग्र भाग वाले भाले, न गंभीर से गंभीर खाई (परिखा), न गर्त (गुफा) न पर्वत और न नदियाँ रोकने में समर्थ हैं। वे भी तुम्हारे विरल प्रवाह में शीघ्र ही मग्न होकर बह जाते हैं।

व्याख्या- इस श्लोक में कवि आँसुओं की अद्भुत शक्ति का वर्णन कर रहा है। जो संसार का जेता है, परीषहों के भयंकर तूफान में भी अडोल रहता है, वह भी आँसुओं के प्रवाह में बह जाता है।

हन्त-प्रसन्नता, हर्ष और आकस्मिक हलचल को प्रकट करने वाला अव्यय।

इस श्लोक में उदात्त अलंकार है। जहाँ वस्तु की समृद्धि का वर्णन हो वहाँ उदात्त होता है। यहाँ आँसुओं की उत्कृष्ट शक्ति, समृद्धि एवं सामर्थ्य का वर्णन किया गया है।

(२५)

दृश्यं पुण्यं चरति सततं पादचारेण सोऽयं,
तस्माद् भूमिं सरत पुरतः पादयोर्नृत्यताऽपि।
संश्लिष्यन्तो हृदयगहनस्पर्शिभावान् सजीवान्,
मार्गान्नातिव्रजति स यतस्तत्क्षणार्द्रान् सजीवान्॥

अन्वय- पुण्यम् दृश्यम् सोऽयं पादचारेण सततं चरति। तस्मात् भूमिं सरत पादयोः पुरतः नृत्यत अपि। सजीवान् हृदय गहनस्पर्शिभावान् सश्लिष्यन्तो। यतः स तत्क्षणार्द्रान् सजीवान् मार्गान् नातिव्रजति।

अनुवाद- आँसुओ! यह पवित्र हृदय है। देखो। यह वह तपस्वी पैदल ही अहर्निश चलता है। इसलिए तुम भूमि पर जाओ और अपने सजीव और हृदय को गहन रूप से स्पर्श करने वाले भावों को साथ रखते हुए उसके पैरों के सामने नृत्य भी करो। क्योंकि वह तत्क्षण आर्द्र सजीव मार्ग का अतिक्रमण नहीं करता है।

व्याख्या- जीव सहित मार्ग अहिंसक महाव्रती के लिए अनुलंघनीय होता है, उसी प्रकार हृदय को स्पर्श करने वाले सजीव भाव भी अनतिक्रमणीय होते हैं। कवि कहता है कि हृदय में सजीव भावों के साथ की गई अभ्यर्थना कदापि निष्फल नहीं होती है।

पुण्यम् दृश्यम्-हे आँसुओ! देखो यह पवित्र दर्शनीय दृश्य को। संसार-मुक्त परम पावन भगवान् पैदल जा रहे हैं। वे हमेशा पैदल ही चलते हैं।

सोऽयम् पादचारेण सततं चरति। वही यह भगवान् महावीर पैदल हमेशा चलते हैं। पादचारेण=पैदल, पैरों के द्वारा चलना-मेघदूत 1.60 में प्रयुक्त क्रीडाशैले यदि च विचरेत् पाद चारेण गौरी। रघुवंश 11.10 में पाद चारमपि।

तस्माद् भूमिं सरत-इसलिए भूमि पर ही जाओ। सृ-गतौ धातु से बना है। विधिलिङ् आत्मनेपद प्रथम पुरुष एकवचन।

इस श्लोक में काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास एवं स्वभावोक्ति अलंकार है।

(२६)

स्मर्तव्यं तद् यतिपतिरसौ पूतभावैकनिष्ठो,
नेयस्तस्माद् ऋजुतमपथैः पावनोत्सप्रतीतिम्।
साहाय्यार्थं हृदयमखिलं सार्थमस्तु प्रयाणे,
तस्योद्घाटः क्षणमपि चिरं कार्यपाते न चिन्त्यः॥

अन्वय– स्मर्तव्यम् तद् असौ यतिपतिः पूतभावैक निष्ठो तस्मात् ऋजुतमपथैः पावनोत्सप्रतीतिम्। नेयः (नव) प्रयाणे साहाय्यार्थं अखिलम् हृदय सार्थम् अस्तु। कार्यपाते तस्योद्घाटः क्षणमपि चिरम् न चिन्त्यः।

अनुवाद– आँसुओ! स्मरण रखना कि वह यति पति पवित्रता के भाव में एकनिष्ठ हैं, (पवित्रता में ही विश्वास करते हैं।) इसलिए अत्यन्त सरल मार्ग से अपने पवित्र उत्स (जन्म स्रोत) की प्रतीति कराना। तुम्हारे प्रयाण में सहायता के लिए मेरा सम्पूर्ण हृदय साथ हो। कार्य पड़ने पर उस हृदय के उद्घाटन में क्षण मात्र भी देर या विलम्ब नहीं करना।

व्याख्या– प्रस्तुत श्लोक में उपचारवक्रता का सुन्दर उदाहरण है। हृदय सहायक कैसे हो सकता है ? उसका उद्घाटन कैसे किया जा सकता? सहायक होना' और उद्घाटन करना किसी मूर्त्त पदार्थ का धर्म है। यहाँ पर कवि का कौशल एवं चातुर्य द्योतित है। अन्य के योग्य तथ्य का अन्य पर आरोप शब्द विच्छित्ति एवं भाव लावण्य को अभिव्यंजित करना है। हृदय के भाव या हृदय के योग के बिना अपने उपास्य या प्रियतम की प्राप्ति नहीं हो पाती है। यति पति एवं पूतभावैकनिष्ठ ये दोनों महावीर के लिए साभिप्राय विशेषण हैं इसलिए परिकर अलंकार है। स्मर्तव्यम् नेयः, तक काव्यलिंग अलंकार है।

यतिपतिः – यतियों के स्वामी। यतियों में श्रेष्ठ।

यति=संयमि, विजितेन्द्रिय। ये निर्जितेन्द्रियग्रामा यतिनो यतयश्च ते

– *अमर. 2.7.43*

जो इन्द्रिय विषयों से उपरम (विरत) हो चुका है। वह यति है। अमरकोश-कार ने यति को निर्जितेन्द्रियग्राम कहा है। ऐसे संयमियों के स्वामी।

पूतभावैकनिष्ठ-पवित्रता की भावना में एकनिष्ठ अर्थात् पवित्रता में विश्वास रखने वाला।

पावनोत्सप्रतीतिम् नेय) - अपनी पवित्र जन्मस्रोत (उत्स) की प्रतीति को पहुंचा देना अर्थात् भगवान् को अपनी पवित्रता की प्रतीति करा देना, तभी तुम पर विश्वास करेंगे। तुम्हारे शब्दों पर भरोसा करेंगे, भावों का आदर करेंगे

इस श्लोक में परिकर, काव्यलिंग अलंकार हैं। माधुर्य गुण के साथ भक्ति की सरिता प्रवाहित है। भावना की पवित्रता, भक्ति का सोपान है। भक्त का प्रथम लक्षण है। पवित्रता का अभिप्राय आन्तरिक विशुद्धि से है।

चन्दनबाला के दूत का जन्म पवित्र वंश में हुआ है। उसका जन्मस्रोत पवित्र है। पावनोत्सप्रतीतिम्। कालिदास का मेघ (यक्ष का दूत) भी संसार के श्रेष्ठ वंश में जन्मा है। यक्ष कहता है -

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां,

जानामित्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोन-मेघदूत 1.6

(२७)

अन्तर्वेदी प्रकरणपटुः किंस्विदत्राऽनुरोध्यो,
नैवं भाव्यं सुचिरमलसैः कल्पनागौरवेण।
कार्यारम्भे फलवति पलं न प्रमादो विधेयः,
सिद्धिर्वन्ध्या भवति नियतं यद् विधेयश्लथानाम्॥

अन्वय- अन्तर्वेदी प्रकरणपटुः अत्र न किंस्वित् अनुरोध्यः एवं भाव्यम् कल्पना गौरवेण सुचिरमलसैः फलवति कार्यारम्भे न पलं प्रमादो विधेयः। यद् विधेयश्लथानाम् सिद्धिः नियतं वन्ध्या भवति।

अनुवाद- भगवान् अन्तर्हृदय को जानने वाले तथा अवसरज्ञ हैं। इनसे अनुरोध की क्या आवश्यकता है? इस तरह समझकर कल्पना के भार से बहुत

देर तक आलसी होकर (अपने कार्य से विरत मत हो जाना) । फलवान् कार्यारम्भ होने पर क्षण भर भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। क्योंकि शिथिलता (आलस्य) करने वालों की सिद्धि निश्चित ही निष्फल हो जाती है (अर्थात् आलसी की कार्य सिद्धि नहीं होती है।)

व्याख्या- परिकर एवं अर्थान्तरन्यास अलंकारों का सुन्दर विनियोजन हुआ है। अन्तर्वेदी और प्रकरणपटु: साभिप्राय विशेषण हैं इसलिए परिकर अलंकार है। कार्यारम्भे. और सिद्धि: दो सुन्दर सूक्तियों का विनियोजन हुआ है।

(२८)

आलोकाग्रे वसतिममलामाश्रयध्वेऽपि यूय—
मालोकानामधिकरणभूरेष पुण्यो महर्षिः।
दृश्यं कश्चिच्चटुकृतिनटः स्यान्न वा मध्यपाती,
यद् दुर्भेद्यस्तिमिरनिचयो नास्ति तादृक् त्रिलोक्याम्॥

अन्वय- यूथम् आलोकाग्रे अमलाम् वसतिम् आश्रयध्वे। अपि एष पुण्यो महर्षि आलोकानाम् अधिकरणभू:। दृश्यम् कश्चित् चटुकृतिनट: नवा मध्यपाती स्यात्। यत् त्रिलोक्याम् तादृक् दुर्भेद्य: तिमिरनिचयो नास्ति।

अनुवाद- तुम आँखों के अग्रभाग के पवित्र निवास-स्थान में आश्रय ग्रहण करते हो (निवास करते हो) और वह पवित्र ज्ञान की आधारभूमि है। आँसुओ देखना कहीं चाटुकार नट (मीठा बोलने वाला ठग) तुम्हारे मार्ग में न आ जाए। क्योंकि तीनों लोकों में वैसा (चाटुकार जैसा) दुर्भेद्य कोई अन्धकार समूह नहीं है।

व्याख्या- कवि ने दूत के मार्ग में अधिक सावधानी अथवा अप्रमत्तता पर बल दिया है। वही व्यक्ति अपनी यात्रा में सफल हो सकता है जो हमेशा अप्रमत्त

रहता है, चाटुकारों (झूठी बड़ाई करने वालों) से बचने वाला व्यक्ति अवश्य ही सफल होता है। समाज-व्यवस्था के लिए इसे उपयोग किया जा सकता है। चाटुकारों से ही परिवार, समाज या राष्ट्र बिगड़ता है इसलिए उनसे सदा सावधान रहना चाहिये ।

आलोक=आँख, दृष्टि, दर्शन, पहलु, प्रकाश, ज्ञान प्रकाश।

अमल=पवित्र, मलरहित। वसति=रहना, निवास, घर।

पुण्य=पवित्र, पुनित, अच्छा, भला, रुचिकर।

पूञ्-पवने (क्रयादि) धातु से उणादि सूत्र 'पूञो यण्णुग हस्वश्च (5.15) से यण् णुग् और हस्व करने पर पुण्य बनता है। पुनातीति। जो पवित्र कर दे वह पुण्य है। 'पुण कर्मणि शुभे' धातु से भी क तथा यत् प्रत्यय करने पर पुण्य बनता है। जो शुभ है वह पुण्य है। भगवान् के लिए यह 'पुण्य' शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है जो साभिप्राय है। अर्थात् भगवान् संसार को पवित्र करते हैं। इसलिए पुण्य हैं अथवा शुभ, मंगल, के आकर या मंगलस्वरूप हैं इसलिए पुण्य विशेषण सार्थक है।

महर्षि-महान् ऋर्षि। भगवान् का विशेषण। ऋर्षि सत्यद्रष्टा होता है।

ऋषि: दर्शनात्-यास्क निरुक्त

ऋषय: सत्यवचस: -अमरकोश

ऋषति धम्ममिति ऋषि: -जो धर्म को जानता है अथवा धर्म में गति करता है वह ऋषि है। उत्तराध्ययन चूर्णि पृ. 207।

ऋषति जानाति तत्त्वं ऋषि:, दर्शनात् वा ऋषि:-अभिधान चिंतामणि कोश, पृ. 14

इस श्लोक में अर्थांतरन्यास अलंकार है। पुण्य और महर्षि दो साभिप्राय विशेषण के प्रयोग से परिकर अलंकार भी है।

(२९)

अन्तस्तापो बत भगवते सम्यगावेदनीयो,
युष्मद्योगः सुकृतसुलभः संशये किन्तु किञ्चित्।
नित्याप्रौढाः प्रकृतितरला मुक्तवाते चरन्तः,
शीतीभूता ह्यपि च पटवः किं क्षमाभाविनोऽत्र॥

अन्वय- बत! भगवते अन्तस्तापो सम्यग् आवेदनीयः। युष्मद् योग सुकृत सुलभः किन्तु किंचित् संशये। क्षमाभाविनो पटवः अपि मुक्तवाते चरन्तः किम् अत्र शीतीभूता। नित्याप्रौढा प्रकृतितरला।

अनुवाद- आँसुओ! भगवान् से मेरी अन्तःव्यथा को सम्यक् रूप से निवेदित करना। तुम्हारा योग पुण्य कर्मों (के प्रभाव) से ही सुलभ होता है। किन्तु मुझे कुछ संशय है कि तुम खुली हवा में संचरन करते हुए कहीं ठंडे मत पड़ जाना (सूख मत जाना) तुम कुशल और क्षमाभावी होते हुए भी क्या मेरा कार्य कर सकोगे? क्योंकि तुम्हारी नित्य-लघु आकृति है और तुम स्वभाव से कोमल हो।

व्याख्या- आँसुओं के स्वभाव का वर्णन कवि ने सुन्दर ढंग से किया है। परिकर अलंकार और उपचारवक्रता का अच्छा योग हुआ है। माधुर्य गुण है। मानवीय स्वभाव का चित्र अवलोकनीय है। नित्याप्रौढा प्रकृतितरला-परिकर अलंकार।

(३०)

पूर्वं देहस्तदनुवसनं मृद्-मरुच्चातपोऽपि,
युष्मत्स्नेह-प्रवहणमिदं संविरोत्स्यन्त एव।
तस्माद् भूयाद् विजयजवि तत् संहतञ्चानुवंशं,
त्राणं यस्माद् भवति न च भूःक्षीणमूलान्वयानाम्॥

अन्वय- इदम् युष्मत्स्नेहप्रवहणम् पूर्वं देहः तदनुवसनम् मृद्-मरूच्चात पोऽपि संविरोत्स्यन्त एव। तस्मात् तत् संहतम् अनुवंशम् विजयजवि भूयात्।

यस्मात् भूः क्षीण मूलान्वयानाम् न च त्राणम् भवति।

अनुवाद– यह तुम्हारा स्नेहनिर्झर सर्वप्रथम देह (आखें) उसके बाद वस्त्र, मिट्टी, हवाएँ और आतप के द्वारा बाधित होगा। इसलिए यह तुम्हारा संगठित वंशपरम्परा (प्रवाह) शीघ्रता पूर्वक विजय प्राप्त करे (अपने कार्य में सफल हो), क्योंकि जिनकी धरती पर वंशपरम्परा क्षीण (समाप्त) हो चुकी है, उनका त्राण नहीं होता है (कोई रक्षा नहीं करता है।)

व्याख्या--आंसुओं का अविच्छिन्त प्रवाह सर्वत्र सफल होता है आँसूंओं की अविच्छिन्न प्रवाह परम्परा से कवि समाज–व्यवस्था या सामाजिक सफलता का सूत्र बता रहे है। संसार में वही व्यक्ति सफल होता है जिसकी उत्कृष्ट वंश परम्परा अविच्छिन्न होती है। मरने के बाद भी वे ही जीवित रहते हैं जिनकी योग्य आनुवांशिकता जीवित होती है।

कवि अपने दूत को बाधाओं से सावधान कर रहा है। हे आसूँओं तुम्हारा प्रथम विरोधी तुम्हारा अपना निवास अर्थात् आखें ही होगी क्योंकि आँखें तुम्हें अपने में समेटकर रोक लेंगी। साधक को सचेत कर रहा है कि श्रेयस्कर में प्रथम बाधा अपना ही होता है। राग, मोह, क्रोध– ये सब अपने हैं, और सबसे खतरनाक हैं।

इदम्-एव, जब तुम्हारा यह स्नेह रूप निर्झर प्रवाहित होगा तो प्रथम बाधा देह (आखें) ही करेगा उसके बाद वस्त्रादि बाधक बनेंगे। लेकिन अपने कार्य में वह सफल होता है जो लाख विघ्नों के आक्रमण होने पर भी अडोल होकर अपने लक्ष्य के प्रति सयत्न रहता है। वही श्रेष्ठ पुरुष होता है। नीतिशतक–में निर्दिष्ट है।

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्यचोत्तमजना न परित्यजन्ति॥ नीतिशतक 27

अर्थात् विघ्नों के द्वारा बार–बार घातित किए जाने पर भी उत्तम पुरुष कार्य को आरम्भ कर मध्य में नहीं छोड़ते।

आरब्धे हि सुदुष्करे महतां मध्ये विरामः कुतः–कथासरित्सागर

महान् पुरुष सुदुष्कर कार्य को आरंभ कर बीच में नहीं छोड़ते।

विहडन्तं पि समत्था ववसायं पुरिसदुग्गमं णेन्ति वहम्-सेतुवन्ध 3

इस श्लोक में अनुप्रास, समुच्चय और अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार हैं।

अनुप्रास-मृद्मरूच्चातपः

आसुओं को कार्य करने में बाधा इसलिए है कि वह सरलप्रकृति का है। कार्य बाधक के रूप में आँखे मृद् मरुत आदि भी हैं इसलिए समुच्चय अलंकार है।

तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत्। समुच्चयोऽसौ। काव्यप्रकाश यहां खलेकपोः न्याय से समुच्चय अलंकार है।

त्राणं यस्माद् भवति न-अर्थान्तरन्यास पूर्व का समर्थन किया गया है। माधुर्य, प्रसाद और ओज-तीनों गुणों का समन्वय है।

(३१)

ध्येयं सम्यक् क्वचिदपि न वा न्यून-सज्जा भवेत,
घोषाः पुष्टा बहुलतुमुलास्ते पुरश्चारिणः स्युः।
आकर्षेयुर्गमन-नियतं ये प्रभोर्ध्यानमत्र,
यन् मूकानां न खलु भुवने क्वापि लभ्या प्रतिष्ठा॥

अन्वय- सम्यक् ध्येयम् नवा क्वचिदपि न्यूनसज्जा भवेतु। बहुलतुमुला पुष्टा घोषा ते पुरश्चारिणः स्युः। ये गमन-नियतं प्रभोर्ध्यानम् अत्र आकर्षेयुः। यत् मूकानां न खलु क्वापि प्रतिष्ठालभ्या।

अनुवाद- आँसूओ! तुम सम्यक् रूप से ध्यान रखना कि कहीं किसी प्रकार से सामग्री-तैयारी में न्यूनता न रह जाए। अत्यधिक कोलाहलमय (तुमुलनाद करने वाले) ये घोष (मेरी सिसकियाँ) तुम्हारे आगे-आगे चलें और जानेवाले भगवान् के ध्यान को इधर आकृष्ट करें। क्योंकि मूक व्यक्तियों को निश्चय ही कोई प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती है।

व्याख्या- इस श्लोक में करुणा का स्वाभाविक चित्रण है। इष्ट की अप्राप्ति निश्चित हो जाने पर या प्राप्त इष्ट के अप्राप्त हो जाने पर मानवीय मन में तूफान

मच जाता है। करुणा का सागर तरंगायित होने लगता है। बाहर प्रथमतः आँसूओ के रूप में उसी हृदयगत करुणा की अभिव्यक्ति होती है। आँसूओ के साथ सिसकियाँ भी होती हैं जो आँसूओ की शक्ति को अधिक बलवान् कर देती हैं। भक्तजन जब प्रभु के चरणों में अपने भावों को पहुँचाना चाहता है तो आँसू सहायक होते हैं। चन्दनबाला दुःखी है, अधीर है लेकिन अवश्यकरणीय का सम्यक् ध्यान है। प्रमादी नहीं है। इसलिए अपने दूत को हमेशा सतर्क करती है। इस श्लोक में समुच्चय, अर्थान्तरन्यास एवं अनुप्रास अलंकार हैं। अन्य कारण समान रूप से सहायक हो तो समुच्चय होता है। खलेकपोत-न्याय से समुच्चय अलंकार होता है। तात्पर्य है कि जैसे खलिहान में अनेक कबूतर एक साथ उतरते हैं उसी प्रकार अनेक कारण कार्य सिद्धि में समान रूप से सहायक हो वहाँ समुच्चय होता है।

तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत्। - काव्यप्रकाश

सज्जा=साज-सामान, आवश्यक उपकरण, वेशभूषा।

न्यून-सज्जा भवेत=कहीं तैयारी कम न हो जाए, ह्रस्व न हो जाए। किसी भी कार्य की सफलता तभी सिद्ध हो सकती है जब उसकी पूर्व तैयारी पूर्ण रूप से हो। कवि ने इस सूत्र के माध्यम से सामाजिक सफलता के लिए अच्छा उपाय बताया है। अर्थान्तरन्यास अलंकार है। (यन्मुकानाम्) इस सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन हुआ है।

(३२)

निश्छिद्रेऽस्मिन् भगवति पुनश्छिद्रमन्वेषयेयुः,
संपत्स्यन्ते सफल विधयस्ते कदाचिन्न तत्र।
कर्णश्छिद्रं सदपि सगुणं बाधते तं न किञ्चि-
त्तद् यातोच्चैजिनमुपगताः प्राणवत्तां पटिष्ठाम्॥

अन्वय- अस्मिन् निश्छिद्रे भगवति (ये) पुनः छिद्रमन्वेषयेयुः। ते कदाचिद् सफलविधयः न संपत्स्यन्ते। सगुणम् कर्णच्छिद्रम् सदपि तं किंचित् न बाधते। तद् जिनमुपगताः उच्चैः प्राणवत्तां पटिष्ठाम् यातः।

अनुवाद- आँसूओ इस निश्छिद्र भगवान् में जो पुनः छिद्र का अन्वेषण करते हैं वे कदाचित् भी कार्य-सफलता को प्राप्त नहीं करते हैं। (अर्थात् उनकी याचना भगवान के पास सफल नहीं होती है।) छिद्रयुक्त कान गुण सहित (शब्द सहित) होते हुए भी भगवान् को थोड़ा भी बाधित नहीं कर पाता है। इसलिए विशिष्ट शक्तिशाली एवं कुशलता से युक्त होकर जिनेन्द्र (भगवान् महावीर) के पास जाना चाहिए।

(३३)

स्फूर्त्यात्मानः प्रसरणसहा भेदसंघातजाताः,
संकेतैर्वा सहजशकनैर्वेदयन्तोऽर्थजातम्।
शब्दा यूयं प्रकृतिपटवोऽनक्षराः साक्षरा वा,
नाश्वस्तां मां किमपि शृणुयादित्यमुं प्रेरयध्वम्॥

अन्वय- शब्दा! यूयम् स्फूर्त्यमानः प्रसरणसहा भेदसंघातजाताः प्रकृति पटवो संकेतैः सहजशकनैर्वा अर्थ जातम् वेदयन्तो। अनक्षरा साक्षरा वा। माम् नाश्वशताम् किमपि श्रृणुयाद् इति प्रेरयध्वम्।

अनुवाद- शब्दों! तुम स्फुरित होने वाले, फैलने में समर्थ पुद्गल स्कन्धों के भेद-समूह से उत्पन्न, स्वभावतः कुशल एवं संकेत अथवा स्वाभाविक शक्ति से अर्थसमूह (वस्तु के अर्थ) का बोध कराते हो। अक्षर और अनक्षर रूप से तुम्हारे दो भेद हैं। तुम भगवान् को प्रेरित करो की मुझ व्यथिता के दुःख को किंचित् सुने (मेरी ओर ध्यान दे, मेरे ऊपर कृपा करे)।

व्याख्या- चन्दनबाला दुःख पीड़ित है, भगवान् के लौट जाने पर वह रूदन करने लगी। आँसूओ के साथ सिसकियाँ भी निकल रही हैं। उन्हीं सिसकियों (शब्दों) को चन्दनबाला सम्बोधित कर रही है। इसमें परिकर, काव्यलिंग आदि अलंकार हैं। इसमें शब्द के स्वरूप की ओर निर्देश किया गया है। अमरकोशकार ने शब्द के तीन अर्थ माने हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय विषय के रूप में-रूपं शब्द (अमरकोश1.5.7)

व्याकरणादि शास्त्रों का वाचक-शास्त्रे शब्दस्तु वाचक (1.6.2)

ध्वनि के पर्याय

शब्दे निनाद निनद-अमर 1.6.22

शप आक्रोशे धातु से शाशपिभ्यां ददनौ (उणादि 4.97) से दन् प्रत्यय होकर शब्द बनता है। शब्द शब्दकरणे धातु से घञ् प्रत्यय करने पर होता है। राजवार्तिककार ने लिखा है-

शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्यायति शप्यते येन शपनमात्रं वा शब्दः, अर्थात् जो अर्थ को कहता है, जिसके द्वारा अर्थ कहा जाता है या शपन मात्र है वह शब्द है। बाह्य श्रवणेन्द्रिय द्वारा अवलम्बित भावेन्द्रिय द्वारा जानने योग्य ऐसी जो ध्वनि है वह शब्द है।

शब्द के दो भेद हैं - अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक।

परिकर अलंकार है। शब्दों के लिए अनेक साभिप्राय विशेषण का प्रयोग है।

(३४)

जीवाजीवैरपि तदुभयैर्यूयमुत्पद्यमाना,
अभ्रे मूर्तिं जनयथ निजां चित्ररेखाश्च भूमौ।
चित्रं युष्मान् श्रवणविषयान् मन्वतेऽद्यापि लोकाः,
सूक्ष्मैर्भाव्यं न खलु विदुरैः स्थूलदृष्टिं गतेषु॥

अन्वय- यूयम् जीवाजीवैः तदुभयैः उत्पद्यमाना अभ्रे निजां मूर्तिं भूमौ चित्ररेखाश्च जनयथ। चित्रम् अद्यापि लोका युष्मान् श्रवणविषयान् मन्वते। स्थूलदृष्टिं गतेषु विदुरैः सूक्ष्मैः खलु न भाव्यम्

अनुवाद- शब्दो ! तुम जीव, अजीव एवं जीवाजीव (मिश्र) से उत्पन्न होकर आकाश में अपनी आकृति और भूमि पर विविध रेखाओं का निर्माण करते हो। आश्चर्य है कि आज भी लोग तुम्हें कानों का ही विषय मानते हैं। स्थूल दृष्टि वाले लोगों के मध्य में विद्वानों को निश्चय ही सूक्ष्म नहीं बनना चाहिए (सूक्ष्म ज्ञान नहीं देना चाहिए)।

व्याख्या- शब्द बिम्ब का सुन्दर उदाहरण है। अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

(३५)

सद्यो वातावरणमखिलं क्षोभयन्त्यो लहर्यो,
युष्माकं तं निरुपममहो ध्यानलीनं समेत्य।
क्षोभात्मानं निजकमुचितं विस्मरेयुर्न भावं,
कश्चिच्चित्रो भवति भुवने यन्महात्म-प्रभावः॥

अन्वय- अहो सद्यो वातावरणमखिलम् क्षोभयन्त्यो युष्माकम् लहर्यो तम् निरूपमम् ध्यानलीनम् समेत्य निजकं क्षोभात्मानम् उचितम् भावम् न विस्मरेयुः यत् भुवने महात्म प्रभावः कश्चित् चित्रो भवति।

अनुवाद- आँसुओ ! सम्पूर्ण वातावरण को सद्य क्षोभित करने वाली तुम्हारी लहरें उस निरूप ध्यानलीन भगवान् के पास जाकर कहीं झकझोरने वाले अपने स्वभाव को ही न भूल जाए। क्योंकि संसार में महात्माओं का कोई अद्भुत प्रभाव होता है।

व्याख्या- चन्दनबाला अपने दूत को सदा कर्तव्य के प्रति अप्रमत्तता का उपदेश देती है। मार्ग में आने वाली कार्यबाधाओं की ओर संकेत करती है। अर्थान्तरन्यास अलंकार है। 'भगवान् को पाकर कहीं भूल न जाए' इस विशेष का (यत् भुवने.) सामान्य के द्वारा समर्थित किया गया है। अच्छी सूक्ति है। निरूपमम् ध्यानलीनम् ये साभिप्राय विशेषण है। इसलिए परिकर अलंकार है। माधुर्य एवं प्रसाद गुण विद्यमान है।

सद्यो-युष्माकम्, उपचारवक्रता का उदाहरण है। सद्य:, न, यत्, अहो आदि अव्यय पद हैं। समेत्य=प्राप्त कर, नजदीक जाकर। सम्-इ+ल्यप्। न विस्मरेयु: भूल न जाना। विधिलिङ्, प्रथम पुरुष, बहुवचन का रूप है।

(३६)

भेदो भावी प्रथमसमये तत्र चिन्ता न कार्या,
स्कन्धानन्यान् वियति विततान् प्राप्य यातव्यमग्रे।
बाध-व्यूहो ध्रुवमुपनतः स्यात् प्रगत्याः प्रयाणे,
सोत्साहास्तं परमपरतो योगमाप्त्वा तरन्ति॥

अन्वय- प्रथम समये भेदो भावी। तत्र चिन्ता न कार्या। वियति विततान् अन्यान् स्कन्धान् प्राप्य अग्रे यातव्यम्। प्रगत्या प्रयाणे बाधाव्यूहो ध्रुवमुपनत: स्यात्। सोत्साहा: परतो परमयोगम् आप्त्वा तं तरन्ति।

अनुवाद- शब्दों! प्रयाण के प्रथम समय में ही तुम्हारा भेद (बिखराव) होगा, उस समय चिन्ता मत करना। आकाश में फैले हुए अन्य स्कन्धों को प्राप्त कर आगे बढ़ जाना। क्योंकि प्रगति (उत्थान) के लिए प्रस्थान करते समय बाधाएँ निश्चित ही आती हैं, लेकिन उत्साही मनुष्य दूसरों से पर्याप्त सहयोग प्राप्त कर बाधाओं को पार कर जाते हैं।

व्याख्या- इस श्लोक में चन्दना अपने संदेशवाहक शब्दों के लिए मार्ग गमन काल में उपस्थित होने वाले विघ्नों तथा मार्ग में सहयोग प्राप्त करने योग्य तथ्यों का निर्देश करती है। जब व्यक्ति अच्छे कार्य में प्रवृत्त होता है तो अनेक बाधाएँ आती हैं। श्रेष्ठ व्यक्ति उन्हें वैसे ही पार कर जाता है जैसे संग्राम शीर्ष में वीर योद्धा।

इस श्लोक में काव्यलिंग अनुप्रास एवं अर्थान्तरन्यास अलंकारो की उपस्थिति है। अन्य स्कन्धों को प्राप्त कर आगे जाना - काव्यलिंग। कारण कार्यभाव। वियति विततान्—अनुप्रास। प्रगत्या—तरन्ति के द्वारा पूर्व के दो पंक्तियों का समर्थन किया गया है। अर्थान्तरन्यास और माधुर्य गुण है।

(३७)

लोकस्यान्ता अविरलमितः स्पर्शनीयाः क्षणेन,
पूर्णाकाशे तदनुविशदं रूपमालेखनीयम्।
आशासेऽहं कथमपि न वा लप्स्यतेऽत्र प्रमादः,
विश्व-व्रज्याकलितविशदज्ञानराशिं प्रयोक्तुम्॥

अन्वय- इतः क्षणेन लोकस्यान्ता अविरलम् स्पर्शनीयाः तदनु पूर्णाकाशे विशदम् रूपम् आलेखनीयम्। अहं आशासे विश्वव्रज्याकलितविशदज्ञानराशिम् अत्र प्रयोक्तुम् न कथमपि प्रमादः लप्स्यते।

अनुवाद- शब्दो! तुम यहां से क्षणभर में लोक मध्यभाग को घनिष्ठतापूर्वक स्पर्श करना, उसके बाद सम्पूर्ण आकाश में अपने स्पष्ट रूप को अंकित कर देना। मैं आशा करती हूँ कि विश्वभ्रमण से प्राप्त विशद ज्ञान राशि को भगवान् के सामने प्रयोग करने में थोड़ा भी प्रमाद मत करना।

व्याख्या- चन्दनबाला दूत के गमन मार्ग का निर्देश कर रही है। पर्याय अलंकार है। एक के अनेक आधार-आकाश का मध्यभाग एवं सम्पूर्ण आकाश इसलिए पर्याय अलंकार है।

एकं क्रमेणानेकस्मिन्पर्यायः — *काव्यप्रकाश 10.180*

अविरलम्=अव्यय—घनिष्ठतापूर्वक, लगातार निर्बाधरूप से।

विशदम् रूपम्= स्पष्ट आकृति को। विशदम् साभिप्राय विशेषण है इसलिए परिकर अलंकार है। उपसर्ग पूर्वक शदलृ शातने धातु से अच् प्रत्यय करने पर विशद शब्द बनता है। विशदः पाण्डरे व्यक्ते इति हैमः 3/337 विश्वव्रज्या= विश्वभ्रमण। व्रज्या-व्रज् धातु क्यप्+टाप्=घूमना, भ्रमण, इधर-उधर घूमना।

(३८)

भावा वाच्या वचनचतुरैर्वैखरीं प्राप्य वृत्तिं-
सारोढव्या क्वचिदिह दशा मध्यमा वा यथार्हम्।
पश्यन्ती न स्मृतिसिचयतो नूनमुत्सारणीया,
युष्माभिर्वा भगवति गतैः स्प्रक्ष्यते सा परापि॥

अन्वय- वचनचतुरैः क्वचिदिह वैश्वरीह वृतिम् प्राप्य भावा वाच्या। क्वचिदिह यथार्हम् मध्यमा दशा वा आरोढव्या। पश्यन्ती स्मृतिसिचयतो न नूनम उत्सारणीया। भगवति गतैः युष्माभिः सा परापि स्प्रक्ष्यते।

अनुवाद- निपुण (वचनकुशल) जनों को (आवश्यकतानुसार) कहीं पर वैखरी ध्वनि को प्राप्त कर अपने भावों को कहना चाहिए। कहीं पर आवश्यकता होने पर मध्यमा ध्वनि का भी आधार लेना चाहिए। ऐसे समय में पश्यन्ती ध्वनि को भी स्मृति से हटाना नहीं। भगवान को प्राप्त करने पर परा ध्वनि का भी संस्पर्श करना पड़ेगा।

व्याख्या- वाणी के चार भेद बताए गये हैं-महाभाष्यकार पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि.'-प्रथमाह्निक में चार भेदों का निर्देश किया है। वे चार भेद हैं-परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। अज्ञान रूपी अंधकार में प्रथम तीन निहित हैं इसलिए प्रकाशित नहीं होते हैं। चौथी वैखरी वाणी का मनुष्य प्रयोग करते हैं।

वैखरी-स्पष्ट मानवीय ध्वनि है। महाभाष्य के अनुसार इसका मनुष्य प्रयोग करते हैं। तुरीयो वाचो मनुष्या वदन्ति। कण्ठादि उच्चारण स्थानों से उत्पन्न, अर्थबोधक वाणी को वैखरी वाक् कहते हैं जो प्राणवृति निबन्धिनी तथा बुद्धि साध्य होती है। लोक में इसी का प्रयोग होता है।

मध्यमा-हृदय से उत्पन्न शब्द भेद को मध्यमा कहते हैं।

प्राणवृत्तिमनुक्रम्य मध्यमा वाक्प्रवर्तते।

पश्यन्ती-अविभाजित वाणी। अन्तःकरण की ध्वनि।

परा-अनपायिनी वाणी। सर्वतन्त्र स्वतंत्र वाणी, बीजरूपा। मूलाधार में स्थित शब्द भेद, जिसके जागरण से परमसत्ता की प्राप्ति सद्यः हो जाती है।

(३९)

चक्षुः कामं सुपटुकरणं दूरतोऽपि प्रकाशि,
नार्हाः सौक्ष्म्यात् परमिह कुतोऽपि प्रतिच्छन्दमाप्तुम्।
तस्माच्छ्रोत्रं शरणमिह वो व्यञ्जनं तेन नेयं,
प्रारब्धव्यो लघुरथ गुरुर्वा विधिः संविमृश्य॥

अन्वय- कामम् दूरतोऽपि प्रकाशि चक्षुः सुपटुकरणम् परमिह सौक्ष्म्यात् प्रतिछन्दम् आप्तुम् कुतोऽपि नार्हाः तस्माद् वः क्षोत्रम् शरणम् नेयन् तेन व्यञ्जनम्। लघुरथ गुरुर्वा संविमृश्य विधिः प्रारब्धव्यः।

अनुवाद- शब्दो! निश्चय ही दूर से ही प्रकाश करने वाला (वस्तु जगत् को देखने वाला) आँख बहुत निपुण इन्द्रिय है। परन्तु उस आंख में सूक्ष्म होने के कारण तुम अपना प्रतिबिम्ब डालने में समर्थ नहीं होवोगे। इसलिए तुम कान का ही शरण लेना जिससे तुम्हारी अभिव्यक्ति हो जाएगी। कार्य छोटा हो या बड़ा सम्यक् रूप से विचार कर ही उसका प्रारंभ करना चाहिए।

व्याख्या- प्रस्तुत श्लोक में कवि ने सफलता का सूत्र दिया है। जीवन में वही व्यक्ति सफल होता है जो कार्य को सोच-विचार कर प्रारंभ करता है।

कामम्=अव्यय पद है। निस्संदेह, बेशक, सचमुच आदि अर्थों का वाचक है।

प्रतिछन्दम्=चित्रम्, मूर्तिः, प्रतिमा।

व्यञ्जनम्=स्पष्टीकरणम्, चिह्नम्, संकेतम्। वि उपसर्ग+अञ्ज धातु+ल्युट् प्रत्यय।

विधिः कृत्य, कर्म, अनुष्ठान, कार्य।

काव्यलिंग एवं अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

तस्माद्-व्यञ्जनम्-काव्यलिंग अलंकार।

लघुरथ-के द्वारा समर्थन। सुन्दर सूक्ति।

अर्थान्तरन्यास अलंकार। माधुर्य गुण।

(४०)

तद् युष्माभिः पुनरपि पुनः पूरणीयं सयत्नं,
पश्चात्तत्रोपकरणमपि प्राप्स्यते मार्गदर्शि।
संप्राप्तानां लघु भगवता भोत्स्यते व्यञ्जनं वो,
यन्नापेक्ष्या ध्रुवमतिथयः सङ्गमार्थाः प्रबुद्धैः॥

अन्वय- युष्माभिः पुनरपि पुनः सयत्नम् तद् पूरणीयम्। पश्चात् तत्र मार्गदर्शि उपकरणमपि प्राप्स्यते। भगवता सम्प्राप्तानाम् वः लघु व्यञ्जनं भोत्स्यते। यत् सङ्गमार्थाः अतिथयः ध्रुवम् न उपेक्ष्या।

अनुवाद- शब्दो! तुम बार-बार प्रयत्न करके भगवान् के कान को भर देना। उसके बाद वहाँ पर तुम्हारा मार्गदर्शक उपकरण (सहायक) भी मिल जाएगा। भगवान् के द्वारा सम्प्राप्त किए जाने पर तुम्हारी स्फुट अभिव्यक्ति हो जाएगी। क्योंकि मिलने के लिए आए हुए अतिथिगण प्रबुद्ध व्यक्तियों के द्वारा उपेक्षित नहीं होते हैं।

व्याख्या- इन्द्रियाँ पाँच हैं-स्पर्शन्, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। प्रत्येय के दो-दो भेद हैं-द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय के दो भेद-निर्वृत्त और उपकरण रूप द्रव्येन्द्रिय। भावेन्द्रिय के दो भेद-लब्धि और उपयोग। द्विविधानि। निर्वत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्। लब्ध्युपयोगो भावेन्द्रियम्॥ तत्त्वार्थसूत्र 2.16-18। श्रोत्रेन्द्रिय के दो भेद हुए- निर्वृत्ति और उपकरण। कर्णशष्कुली (कर्ण की पपड़ी) और कदम्ब के फूल के रूप में जो कान की बाहरी और भीतरी बनावट है वह निर्वृत्ति-इन्द्रिय कहलाती है। निर्वृत्ति की वह शक्ति जो शब्द सुनने में उपकारक बनती है उपकरण इन्द्रिय कहलाती है- येन निर्वृत्तेरूपचारः क्रियते तदुपकरणम्-सर्वार्थसिद्धि। यहाँ पर उपकरण का तात्पर्य श्रोत उपकरणेन्द्रिय से है जो शब्दों को कान तक ले जाने में सहायक होता है।

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास एवं पर्याय अलंकार है।

(४१)

अग्रे चेतः स्फुरितमधुना भावि युष्मद्-ग्रहाय,
सन्देहानां झटिति वसतिर्लङ्घनीयान्तराप्ता।
सेहापोहं तदनु भगवांल्लप्स्यते निश्चयं व—
श्चिन्तापूर्वं कृतपरिचया एव सख्यं वहेरन्॥

अन्वय- अधुना अग्रे स्फुरितम् चेतः युष्मद् ग्रहाय भावि। अन्तः आप्ता संदेहानाम् वसतिः झटिति लंघनीया। तदनु सेहापोहम् वः निश्चयम् भगवान् लप्स्यते। चिन्तापूर्वम् कृतपरिचया एव सख्यं वहेरन्।

अनुवाद- शब्दो! अब आगे भगवान् का स्फुरित (संवेगित) चित्त (मन) तुम्हें ग्रहण करने (लेने) आएगा। यदि (उसके साथ चलते हुए कहीं) बीच में संदेहों की नगरी आ जाए तो उसे शीघ्रता पूर्वक लांघ जाना। उसके बाद ईहा और अपोह के साथ भगवान् निश्चय ही तुम्हें ग्रहण करेंगे (अपनायेंगे)। क्योंकि प्रथमतः सोच-विचार कर परिचय करने वाले ही मैत्री का निर्वाह करते हैं।

व्याख्या- यह श्लोक उपचारवक्रता का सुन्दर उदाहरण है। मूर्त के धर्म ग्रहण, स्फुरण, वसति (वस्ती) आदि का अमूर्त पदार्थ-शब्द, मन और संदेह पर आरोप किया गया है। संदेहानाम् वसति.-संदोहों की नगरी। नगरी तो द्रव्य, मूर्त की होती है, संदेहों पर आरोप है।

अधुना=इस समय, अब।

अधुना (पा. 5.3.17) सूत्र से इदम् शब्द का अधुना बना है। कालवाचक होने पर। स्फुरितम्--चंचल विक्षुब्ध, चेत्त=मन, हृदय। भावि=भविष्यति।

सेहापोहम्=ईहा और अपोह के साथ।

ईहा-मति ज्ञान का एक भेद। अवग्रह ईहा, अवाय और धारणा ये चार मति ज्ञान के भेद होते हैं। विषय और विषयी के सम्बन्ध को दर्शन कहते हैं, उसके अनन्तर होने वाले ज्ञान को अवग्रह कहते हैं। पदार्थ का ज्ञान अवग्रह है— सर्वार्थ सिद्धि।

अवग्रह के द्वारा ग्रहण किए गये अत्यन्त अस्पष्ट ग्रहण को स्पष्ट करने के लिए उपयोग की परिणति को ईहा कहते हैं। 'यह होना चाहिए' इस प्रकार का ज्ञान ईहा कहलाता है। जैसे यह शब्द गुरु का होना चाहिए।

अपोह-ईहा के बाद अपोह आता है। जिसके द्वारा संशय के कारणभूत विकल्प का निराकरण किया जाता है वह अपोह है 'अपोह्यते संशय निबन्धन विकल्पः अनया इति अपोहाः'-धवला। यह वही-इस प्रकार का ज्ञान अपोह (अवाय) कहलाता है। जैसे यह गुरु का शब्द है अन्य व्यक्ति का नहीं।

भगवान्-जो भग-ऐश्वर्य श्री, ज्ञान, यश, लक्ष्मी आदि को धारण करता है वह भगवान् है। विशेष ज्ञान के लिए द्रष्टव्य लेखककृत भक्तामर सौरभ पृ. 246-248

लप्स्यते-बोलेंगे, स्वीकार करेंगे। अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

वहेरन्-वह् धातु का आत्मने पद विधिलिङ्, प्रथमपुरुष, बहुवचन।

(४२)

अक्षज्ञाने क्वचिदथ भवेत् संशयो व्यत्ययो वा,
भावज्ञप्तौ मम न पृथुलस्तेन कार्यः प्रयत्नः।
प्रत्यक्षेण प्रतिकृतिमिमां मानसीं द्रष्टुमिच्छे-
देतत्कृत्वा चतुरविधिभिर्मौनमालम्बनीयम्॥

अन्वय- अक्षज्ञाने क्वचिदथ संशयो व्यत्ययो वा भवेत् तेन मम भावज्ञप्तौ पृथुलः प्रयत्नः न कार्यः। इमाम् मानसीम् प्रतिकृतिम् प्रत्यक्षेण द्रष्टुमिच्छेत्। एतत् कृत्वा चतुरविधिभिः मौनमालम्बनीयम्।

अनुवाद- शब्दो! इन्द्रिय-ज्ञान में कहीं संशय अथवा व्यत्यय हो सकता है। इसलिए मेरे भावों की ज्ञप्ति में तुम अधिक प्रयत्न मत करना। भगवान् प्रत्यक्ष

ज्ञान (मनः पर्यव ज्ञान) से ही मेरी मानसिक आकृति (विचारों) को साक्षात् जानने की चेष्टा करे-इस प्रकार भगवान् को प्रेरित कर तुमें कार्य निपुण के द्वारा मौन आलम्बन कर लेना चाहिए।

व्याख्या- इस श्लोक में इन्द्रिय-ज्ञान में संशय और व्यत्यय की ओर निर्देश कर प्रत्यक्ष ज्ञान को श्रेष्ठ बताया गया है। ज्ञान दो तरह के होते हैं-परोक्ष और प्रत्यक्ष। इन्द्रियजन्य ज्ञान परोक्ष है, इसे अक्ष ज्ञान भी कहते हैं। अक्षम्=इन्द्रिय

अक्ष ज्ञान=इन्द्रिय ज्ञान। यह भी दो प्रकार का होता है-मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। आत्मकृत ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।

अवधि, मनः पर्यव और केवलज्ञान प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आते हैं।

पृथुलः =अधिक, चौड़ा, प्रशस्त।

व्यत्यय=विरोध, वैपरीत्य, रूपान्तरण। काव्यलिंगालंकार है।

पृथुलः प्रयत्नः=परिकर अलंकार, पृथुल विशेषण का प्रयोग हुआ है।

(४३)

ध्येयं सैषोऽवगणयति तान् कामिनीनां कटाक्षान्,
येषां क्षेपैः कुटिलगतिभिर्वक्रताऽत्याजि वक्रैः।
तस्माद् रेखा युवतिविषयाः कामनां तेजयन्त्यो,
नालेख्या ही चटुलचरणैर्वस्तरङ्गैः सकम्पम्॥

अन्वय- स एष भगवान् कामिनीनाम् तान् कटाक्षान् अवगणयति येषाम् कुटिलगतिभिः क्षेपैः वक्रैः वक्रता अत्याजि। तस्माद् वः ध्येयम् सकम्पम् चटुलचरणैः तरङ्गैः कामनां तेजयन्त्यो ही युवति विषया रेखा न आलेख्या।

अनुवाद- वह भगवान् कामिनियों के उन कटाक्षों की अवगणना करता है जिनके कुटिल प्रहार से वक्र व्यक्ति भी अपनी वक्रता का परित्याग कर देते हैं।

इसलिए तुम ध्यान रखना कम्पनयुक्त चंचल तरंग से कामना (काम-वासना) को उत्तेजित करते हुए कहीं युवति विषयक चित्र मत अंकित कर देना।

व्याख्या- कामिनियों के कुटिल कटाक्ष से बड़े-बड़े वीर भी पराजित हो जाते हैं लेकिन भगवान पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

कामिनीनाम्=कामुक स्त्रियों का।

कटाक्षान्=कटाक्षों को, अवगण यति=तिरस्कृत करता है। येषाम्=जिनके। कुटिलगतिभिः =कुटिल गति से युक्त। क्षेपैः = क्षेप का तृतीया बहुवचन। क्षेप=प्रहार, फेंकना।

वक्रैः = वक्रों के द्वारा। वक्र=कुटिल, टेढ़ा, क्रूर, घातक

वक्रता = क्रूरता, कुटिलता। अत्याजि=त्याग देना।

काव्यलिङ्ग अलंकार है।

(४४)

एते शब्दा निशितविशिखा मन्मथस्येति मत्वा,
नोपेक्षेत प्रवर-विरतिः कार्यलग्नांश्च युष्मान्।
तन्निश्वासा भगवति हि मेऽमोघ-संप्रार्थिताया:,
श्रद्धापट्टं स्फुटमधिगुणं सम्यगाबध्य यात॥

अन्वय- एते शब्दा मन्मथस्य निशित विशिखा इति मत्वा प्रवरविरतिः युष्मान् कार्यलग्नान् न उपेक्षेत। निश्वासा तत् हि मे अमोघ प्रार्थिताया: स्फुटम् अधिगुणम् श्रद्धापटम् सम्यग् आबध्य भगवति यातः।

अनुवाद- ये शब्द कामदेव के तीक्ष्ण बाण हैं ऐसा मानकर वह प्रकृष्ट संयमी (भगवान्) कार्य में लगे हुए तुम्हारी उपेक्षा न कर दे। इसलिए शब्दों! अमोघ

अभ्यर्थना से युक्त मेरे स्पष्ट श्रेष्ठ गुणों से पूर्ण श्रद्धापट्ट को सम्यक् रूप से बांधकर भगवान् में प्रवेश कर जाना (भगवान् के पास जाना)।

व्याख्या- भगवान् के पास वही जा सकता है जिसके पास श्रद्धा हो। श्रद्धावान् ही भगवान् को प्राप्त कर सकता है। प्रवरविरति भगवान् का विशेषण है। प्रवर=सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्तम। विरति=सांसारिक वासनाओं से अलग, संयमी। अधिगुणम्-श्रेष्ठ गुण वाला, योग्य, गुणी

काव्यलिङ्ग, रूपक एवं परिकर अलंकार है। विशिखा इति मत्वा-कारण उपेक्षेत-कार्य, काव्यलिङ्गालंकार- श्रद्धापट्टम्=श्रद्धारूप वस्त्र। रूपक अलंकार जहाँ उपमान और उपमेय में एकरूपता हो जाए उसे रूपक कहते हैं। तद्रूपकमभेदोय उपमानोप मेययो:-काव्यप्रकाश। स्फुटम् अधिगुणम्-साभिप्राय विशेषण हैं इसलिए परिकर अलंकार है।

(४५)

भद्रं भूयात् पथि विचरतां श्रेयसे प्रस्थितानां,
दिग्-व्यामोहं न खलु जनयेत् क्वापि वातः प्रतीपः।
आशादीपा अभिनवघनाः प्रावृषेण्या हवाश्च,
निष्प्रत्यूहाः स्युरिह यदि तत् कः स्मरेद् वामवातम्॥

अन्वय- श्रेयसे प्रस्थितानाम् पथि विचरताम् भद्रं भूयात्। प्रतीप: वात: न खलु क्वापि दिग्-व्यामोहं जनयेत्। यदि आशादीपा प्रावृषेण्या: अभिनवधना निस्प्रत्युहा: हवाश्च इह स्यु: क: तत् वामवातम् स्मरेद्।

अनुवाद- श्रेयस् के लिए प्रस्थित तुम्हारे मार्ग में विचरण करते हुए सदा कल्याण हो। विपरीत पवन कभी दिशा-व्यामोह (दिङ्मूढ़ता) को उत्पन्न न करें। यदि आशा का दीपक, बरसात ऋतु में उत्पन्न अभिनव मेघ और विघ्नरहित प्रार्थना (आमत्रण) हो तो विपरीत पवन का स्मरण कौन करता है?

व्याख्या– चन्दना अपने दूत के गमन के लिए मंगल कामना करती है। 'कभी भी विपरीत परिस्थिति तुम्हें प्राप्त न हो' ऐसा आशंसा करती है। मेघदूत का यक्ष मेघ से कहता है कि कभी भी मेरी जैसी विपरीत अवस्था (प्रियतमा-विरहित अवस्था) को प्राप्त मत करना–

मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोग:-मेघ. 2/55

भद्र=कल्याण। प्रतीप:=विपरीत, वात:-पवन, प्रावृषेण्या=वर्षा ऋतु में उत्पन्न, अभिनिवघना-नए मेघ। घना:=बादल।

आशादीपा: = आशा के दीपक। कार्य-सफलता के अमोघ सूत्र महाकवि ने इस श्लोक में बताया है। जिसके आशा का दीपक हो, निर्विघ्न आमंत्रण-प्रार्थना हो और बरसाकालीन अभिनव मेघ हो तो विपरीत पवन की स्मृति कौन करता है? अर्थात् कोई नहीं।

कैमुतिक न्याय से यहाँ अर्थापति अलंकार है। आशादीप में रूपक अलंकार है। प्रावृषेण्या अभिनवघना- परिकर। हवा=आवाहन, प्रार्थना।

(४६)

श्रद्धाश्रूणि प्रकृतिमृदुता मानसोद्घाटनानि,
नि:श्वासाश्चाखिलमपि मया स्त्रीधनं विन्ययोजि।
सानुक्रोशो मयि परमत: सैष भावी नवेति,
सापेक्षाणामपरमपरं स्याज्जगत्तत्परेषाम् ॥

अन्वय– श्रद्धाश्रूणि प्रकृति मृदुता मानसोद्घाटनानि नि:श्वसाश्च अखिलम् अपि स्त्रीधनम् मया विन्ययोजि। परमत: सैष मयि सानुक्रोशो भावी न वेति। सापेक्षाणाम् अपरम् परेषाम् च अपरम् जगत् स्यात्।

अनुवाद– श्रद्धा के आँसू, स्वाभाविक कोमलता, हृदय का उद्घाटन और नि:श्वास (आहें) ये स्त्रियों के सम्पूर्णधन (सबकुछ) हैं। (इन्हें भी) हमने

भगवान् में लगा दिया। फिर भी वह भगवान् मेरे ऊपर दया युक्त होंगे अथवा नहीं। क्योंकि अपेक्षा रखने वालों का संसार अलग होता है निरपेक्षों का अलग।

व्याख्या– स्त्री के स्वभाव का सुन्दर वर्णन महाकवि ने किया है। महिला जगत् अपनी प्रकृतिमृदुता, श्रद्धा की पवित्रता, हृदय की स्पष्टता आदि के लिए प्रसिद्ध है। ये सब स्त्री के धन हैं। इस पूरे धन को चन्दना ने भगवच्चरणों में समर्पित कर दिया, फिर भी भगवान् की कृपा होगी अथवा नहीं भी हो सकती है। क्योंकि सापेक्ष=आसक्त जनों का संसार अलग होता है। निरपेक्ष=अनासक्त जनों का संसार अलग होता है। इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलंकार है। अनुक्रोश=दया, करुणा।

(४७)

ईषत् स्पृष्ट्वा रविरपि नभस्तेजसा हि प्रयाति,
क्वैति स्थैर्यं दिशि-दिशि लषन् विद्युदालोक एषः।
मूढानज्ञांस्तिमिरपतितानुद्धरेत्तादृशः कः,
प्रारम्भोत्का जगति वहवोऽल्पेहि निर्वाहकाः स्युः॥

अन्वय– तेजसा नभ ईषत् स्पृष्ट्वा रविरपि प्रयाति। एष विद्युतालोकः दिशिदिशि लषन् स्थैर्यम् क्वैति। मूढान् अज्ञान् तिमिरपतितान् उद्धरेत् एतादृशः कः। हि जगति प्रारम्भोत्का बहवः निर्वाहकाः अल्पे स्युः।

अनुवाद– अपने प्रकाश से आकाश को थोड़ा-सा स्पर्श कर सूर्य भी चला जाता है। यह विद्युत प्रकाश दिशाओं को आलोकित करता (समाप्त हो जाता है), स्थैर्य (स्थिरता) कहाँ चला जाता है। मूढ, अज्ञ और घोर अन्धकार में गिरे हुए लोगों का उद्धार करे, ऐसा कौन है। क्योंकि संसार में कार्यारम्भ में बहुत व्यक्ति उत्साह दिखाते हैं (लालायित रहते हैं) लेकिन अन्त तक निर्वाहक अल्प ही होते हैं।

व्याख्या– संसार में अधिकांश यह देखा जाता है कि किसी कार्य के आरम्भ में बहुत व्यक्ति लालायित होते हैं, उत्साह दिखाते हैं लेकिन थोड़े समय बाद

ही उनका उत्साह ठंडा हो जाता है,अन्त तक कोई साथ नहीं देता है। दो दृष्टान्तों सूर्य और बिजली-प्रकाश के द्वारा कवि ने इस लौकिक-सत्य को स्पष्ट रूप से उद्घाटित किया है।

तेजसा=तेज अथवा प्रकाश के द्वारा, नभः आकाश को ईषत् स्पृष्ट्वा= थोड़ा सा स्पर्श कर, रविरपि-सूर्य भी, प्रयाति=गच्छति चला जाता है। एष=यह विद्युतालोकः=बिजली का प्रकाश। दिशिदिशि=दिशाओं में, लषन्-चमकते हुए स्थैर्यम्-स्थिरता। हि=क्योंकि, जगति=संसार में, प्रारम्भोत्का:=प्रारम्भ में उत्साहित लालायित।

उत्का: समुत्सुका: लालायित, उत्साह युक्त। उत्कण्ठित। उद्गतं मनोऽस्य उत्क:, उद् शब्द से स्वार्थ में कन् प्रत्यय। उत्क उन्मना: (अमरकोश 3.1.17)

इस श्लोक में दृष्टान्त, अर्थापति और अर्थान्तरन्यास अलंकार है।' उपमेय वाक्य, उपमान वाक्य तथा उनके साधारण धर्म में यदि बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव हो तो दृष्टान्त अलंकार होता है-दृष्टान्त: पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्-काव्यप्रकाश 10.102 ईषत्-एष:-दृष्टान्त अलंकार।

क: उद्धरेत-कैमुतिक न्याय से अर्थापति अलंकार। प्रारम्भोत्का- अर्थान्तर-न्यास अलंकार।

(४८)

श्रद्धा-सूता प्रतिकृतिरलं स्यान्न पूजास्पदानाम्,
ते श्रद्धालून् विरहपतितान् प्राणहारं हरेयुः।
देह:स्थौल्याद् विहरति बहिर्निर्विशेषश्च सौक्ष्म्या-
त्तस्यच्छाया श्रयति विशदान् केवलं ग्राहकान् हि॥

अन्वय- पूजास्पदानाम् श्रद्धा-सूता प्रतिकृति: अलम् न स्यात्। ते विरह-प्रतितान् श्रद्धालुन् प्राणहारं हरेयु:। देह स्थौल्या द् बहि: विहरति हि सौक्ष्म्यात् निर्विशेषम् चातस्या छाया केवलम् विशदान् ग्राहकान् श्रयति।

अनुवाद- श्रद्धालु व्यक्ति के पास उनके पूज्यों की श्रद्धा कल्पित आकृति (चित्र) भी नहीं होती (जिससे विरहकाल में सहायता मिल सके)। श्रद्धास्पद (पूज्य) जन (श्रद्धालु के दुःख को तो समाप्त करना तो दूर ही रहता है और) विरह में गिरे हुए (विरह से पीड़ित) श्रद्धालुओं के प्राणों का भी हरण करने लगते हैं (मृत्यु सदृश दुःख देने लगते हैं)। श्रद्धेय देह की स्थूलता के कारण बाहर विहार करता है। सबको दिखाई पड़ता है, लेकिन सूक्ष्म होने के कारण उसकी विशेष छाया केवल पवित्र ग्राहक में (पवित्र हृदय में) ही पड़ती है।

व्याख्या- विरह काल में विरहियों के मनोविभेद के लिए अनेक साधन बताए गए हैं-

1. चित्र-दर्शन
2. स्वप्न दर्शन
3. तदङ्क स्पृष्ट स्पर्श
4. प्रिय विषयक कथा श्रवण
5. कुशल संदेश
6. दूत-संप्रेषण
7. पूजा, ध्यान, साधना
8. प्रिय विषयक चिन्तन
9. मिलन की आशा
10. एकनिष्ठता
11. आत्मसंयम
12. उत्साह

अश्रुवीणा में यत्किंचित् को छोड़कर प्रायः सभी का उपयोग कवि ने किया है। विरहियों के लिए श्रद्धास्पद का चित्र, प्रिय की आकृति विरहकाल में मनोविनोद का साधन हुआ करती है, लेकिन महाप्रज्ञ के व्यथित श्रद्धालु के पास तो उसके अपने प्रिय का चित्र भी नहीं है। कालिदास का यक्ष येन-केन-प्रकारेण पत्थर पर प्रियतमा चित्र तो अंकित कर देता है लेकिन उसके आँखों से ऐसी

धारा चलती है कि उसकी दृष्टि भी विलुप्त हो जाती है। क्रूर विधाता को वह काल्पनिक मिलन भी सह्य नहीं हो सका।

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्:।
अस्रैस्तावन्मुहुरूपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि सहते संगमं नौ कृतान्तः।। (मेघदूत 2.45)

अर्थान्तरन्यास अलंकार है। देहः सौक्ष्म्यात् में कारण कार्य भाव है इसलिए काव्यलिंग भी है।

(४९)

धन्या निद्रा स्मृति-परिवृढं निह्नुते या न देवं,
धन्याः स्वप्नाः सुचिरमसकृद् ये च साक्षान्नयन्ते।
जाग्रत्कालः पलमपि न वा त्वाञ्च सोढुं सहोऽभू-
च्छ्लाघ्योऽश्लाघ्यः क्वचिदपि न वैकान्तदृष्ट्या विचार्यः॥

अन्वय– धन्या निद्रा या स्मृतिपरिवृढं देवं न निह्नुते। धन्याः स्वप्नाः ये च असकृत् सुचिरम् साक्षात् नयन्ते। जाग्रत कालम् पलमपि च त्वाम् न सोढुं सहः अभूत्। श्लाघ्य अश्लाघ्यः नवा क्वचिदपि एकान्त-दुष्टवा विचार्यः।

अनुवाद– निद्रा धन्य है जो स्मृति में व्याप्त देव को नहीं छिपाती है। ये स्वप्न धन्य हैं जो बार-बार बहुत देर तक साक्षात् तुम्हारे पास ले जाते हैं (तेरा साक्षात्कार कराते हैं) लेकिन यह जाग्रत काल क्षणभर भी तुमको सहन नहीं कर सका (साक्षात्कार नहीं कर सका)। श्लाघ्य और अश्लाघ्य के विषय में एकान्त दृष्टि से विचार नहीं किया जा सकता।

व्याख्या– विरह काल में प्राण-सहायक दो साधनों का उल्लेख महाकविं ने प्रस्तुत श्लोक में किया है-निद्रा और स्वप्न। निद्रा और स्वप्न में प्रिय का मिलन हो जाता है लेकिन जाग्रत काल में तो प्रिय आँखों के कोनों का विषय भी नहीं बनता है।

निद्रा–निद्राणम् निद्रा। निन्दनम् निन्द्यतेऽनया इति वा। निपूर्वक द्रा कुत्सायाम् गतौ' धातु से आतश्चोपसर्गे (पा. 3.3.106) सूत्र से अङ् (अ) प्रत्यय।

सोना, निंदासापन, आलस्य, मुकुलितावस्था, निमीलन आदि निद्रा के अर्थ हैं। आचार्य भरत ने दुर्बलता, क्लान्ति, श्रम, मदालस्य, चिन्ता, अति आहार एवं स्वभाव से निद्रा की उत्पत्ति मानी है। नाट्यशास्त्र 7.64।

पातञ्जलयोग सूत्र में निर्देश है कि जाग्रत और स्वप्नावस्था की वृत्तियों के अभाव को आश्रय करने वाल वृत्ति निद्रा है–अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्ति निद्रा (यो.सू.1.10)

जाग्रत स्वप्न और निद्रा–ये बुद्धि की तीन वृत्तियाँ हैं। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार मद, खेद और परिश्रमजन्य थकावट को दूर करने के लिए नींद लेना निद्रा है मदखेदक्लमविनोदनार्थ स्वापो निद्रा–स.सि.8.7.383।

स्वप्न–स्वप् धातु से नक् प्रत्यय करने पर स्वप्न शब्द बनता है। जाग्रत अवस्था में अनुभूत विषय का निद्रा में ज्ञान स्वप्न कहलाता है। जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण ने लिखा है–अनुभव किए हुए, देखे हुए, विचारे हुए, सुने हुए पदार्थ,वात, पित्त आदि प्रकृति के विकार, दैविक और जलप्रधान प्रदेश स्वप्न में कारण होते हैं। सुख निद्रा आने से पुण्य रूप और दु:ख निद्रा आने से पाप रूप स्वप्न दिखाई देते हैं। स्वस्थ अवस्था में देखे गए स्वप्न सत्य एवं अस्वस्थ अवस्था वाले स्वप्न असत्य होते हैं।

विवेच्य महाकवि श्रेष्ठ योगीराज हैं, योग के गहन तथ्यों का अन्वेषण और व्यावहारिक अनुभव में दक्ष हैं इसलिए इस श्लोक में योगदर्शन निर्दिष्ट बुद्धि के तीनों वृत्तियों जाग्रत, स्वप्न और निद्रा का वर्णन किया गया है।

अर्थान्तरन्यास अलंकार है। पूर्व की अन्तिम पंक्ति (सूक्ति) से समर्थन किया गया है।

सा निद्रा धन्या आदरेण्या श्रेष्ठावा या स्मृतिपरिवृढम्–स्मृतौ परिव्याप्तम् विद्यमानम् दानदीपनद्योतनगुणात्मकं देवमुपास्यम् भगवन्तं महावीर न निह्नुते स्मृति मार्गत् न अपवार्यतीव्यर्थः।

(५०)

नैराश्येन ज्वलति हृदये तापलब्धोद्भवानां,
निःश्वासानां ध्वनिभिरुदितै-र्गाहिरे व्योम-मार्गाः।
साकाराणि व्यथितमनसश्चक्रिरे वाचिकानि,
नासंभाव्यं किमपि हि भवेद् पूतवंशोदयानाम्॥

अन्वय- नैराश्येन ज्वलति हृदये तापलब्धोद्भवानाम् निःश्वासानाम् उदितैः ध्वनिभिः व्योममार्गा गाहिरे। व्यथितमनसः वाचिकानि साकाराणि च चक्रिरे। हि पूतवंशोद्यानाम् किमपि न असंभाव्यम् भवेद्।

अनुवाद- निराशा से जलते हुए हृदय में संताप से जन्म ग्रहण किए हुए निःश्वासों (सिसकियों) से उत्पन्न ध्वनि द्वारा सम्पूर्ण आकाश परिव्याप्त हो गया। व्यथित मन वाली चन्दनबाला का संदेश साकार (सार्थक) हो गया क्योंकि पवित्र वंश में उत्पन्न व्यक्तियों के लिए कुछ भी असंभव नहीं होता है।

व्याख्या- महाकवि यहाँ निर्देश कर रहा है कि जिनका जन्म उत्कृष्ट वंश में हुआ है, वे कभी निष्फल नहीं होते हैं। चन्दना की सिसकियों का जन्म पवित्र आँसुओ से हुआ है, इसलिए उसकी सफलता सुनिश्चित है।

नैराश्येन ज्वलति हृदये-हतोत्साहेन आशाविनाशेन वा विदग्धे हृदये मनसि निराशा से ज्वलित हृदय में। काव्यलिंग अलंकार। जलने का कारण निराशा है। कारण कार्यभाव है। अर्थान्तरन्यास अलंकार भी है। अंतिम सूक्तिमूलक पद से पूर्व का समर्थन किया गया है।

व्योममार्गाः गाहिरे-आकाश व्याप्त हो गया। गाह् धातु लिट्लकार प्रथम पुरुष बहुवचन आत्मने पद का गाहिरे रूप बना है।

(५१)

आशावल्ल्या इव ददवष्टम्भमुच्चैः पतन्त्या-
श्चित्तं सिञ्चन्निव दवगतं मन्थरोऽसौ बभूव।
आरम्भाणां प्रथम चरणे लब्धसंपल्लवानां,
साश्चर्यं यच्छुभशकुनता मान्यतां याति लोके॥

अन्वय- उच्चैः पतन्त्याः आशा वल्लयाः अवष्टम्भम् ददत् इव दवगतं चित्तं सिञ्चन् इव असौ मन्थरो बभूव। आरम्भाणां प्रथम चरणे लब्लसंपल्लवानाम् लोके आश्चर्यम् शुभशकुनता मान्यतां याति।

अनुवाद- मानो ऊँचें से गिरती हुई आशावल्ली को अवष्टम्भ (अवरोध) देते हुए तथा जलते हुए चित्त को मानो सिंचन करते हुए भगवान् शिथिल हुए (रुक गए)। कार्यारम्भ के प्रथम चरण में ही यदि फलांककुरोत्पत्ति (थोड़ी सफलता) लोक में आश्चर्यपूर्वक शुभ शकुन मानी जाती है (कार्यारम्भ में थोड़ी सफलता शुभशकुन कहलाती है)।

व्याख्या- उत्प्रेक्षा, रूपक और अर्थान्तर न्यास अलंकार के माध्यम से कवि ने सुन्दर ढंग से भांवाभिव्यञ्जना की है। भगवान् रुक गए ऐसा लगा मानो गिरती हुई आशावल्ली को सहारा दे रहे हो अथवा जलते हुए चित्त का शीतल सिंचन् कर रहे हों। कार्यारम्भ में थोड़ी सी सफलता शुभ शकुन मानी जाती है।

आशावल्ली= आशा की लता, आशारूप लता-रूपक अलंकार। आशा की लता ही विरहियों के जीवन का आधार है। पतन्त्याः गिरते हुए आशावल्लयाः का विशेषण है। अवष्टम्भम् अवलम्बनम्=सहारा, थूनी, स्तम्भ। दवगतम्=अग्नि से युक्त, तप्त। दव=अग्नि। दव का अर्थ जंगल भी होता है प्रस्तुत में अग्नि कांक्ष्य है।

असौ=वह भगवान्। मन्थर=शिथिल। संपल्लव=अंकुर।

(५२)

आश्वस्तापि क्षणमथ न सा वाष्पसङ्गं मुमोच,
प्लुष्टो लोकः पिवति पयसा फूत्कृतैश्चापि तक्रम्।
संप्रेक्षायामधृतितरलाश्चक्षुषां कातराणा—
मासन् भावाः किमिव दधतो मज्जनोन्मज्जनानि॥

अन्वय- सा आश्वस्ता अपि क्षणमथ वाष्पसंग न मुमोच। पयसा प्लुष्टो लोकः तक्रम् फूत्कृतैः पिवति। कातराणाम् चक्षुषाम् संप्रेक्षायाम् अधृतितरलाः भावाः किमिव मज्जनोन्मज्जनानि दधतो आसन्।

अनुवाद- (भगवान् के रुकने पर) वह आश्वस्त होती हुई भी क्षणभर तक आँसुओ की संगति नहीं छोड़ी। क्योंकि दूध से जला हुआ व्यक्ति छाछ तक को फूंक-फूंक कर पीता है। उस समय चंदना के आँखों की संप्रेक्षा (दृष्टि) में अस्थिर और चंचल भाव डूबते उतराते हुए जैसे स्थिति को धारण किए हुए थे।

व्याख्या- जब व्यक्ति प्रथमतः असफल हो जाता है तो फिर आगे बड़ी सावधानी से प्रयाण करता है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य की अभिव्यञ्जना महाकवि ने 'दूध का जला छाछ को फूँक कर पीता है' इस प्रसिद्ध सूक्ति के माध्यम से उद्घाटित किया है। विभावना विशेषोक्ति, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, परिकर, संकर, संसृष्टि आदि अनेक अलंकार हैं। आश्वस्त कारण है लेकिन आँसू त्याग रूप कार्य का अभाव - विशेषोक्ति अलंकार। 'आँसू हैं' इस कार्य का कारण भगवान् के गमन अभाव रूप कारण नहीं है- विभावना। पयसा.- अर्थान्तरन्यास।

दूध से जलना-कारण, छाछ को फूँककर पीना कार्य-काव्यलिंग अधृतितरला- साभिप्राय विशेषण-परिकर अलंकार, आश्चर्य का बिम्ब सुन्दर बना है। लोक-विश्वास, शकुन की मान्यता चित्रित है।

(५३)

वाष्पा जाताः प्रकृतसफलाश्चापि निःश्वासशब्दाः,
संदेशा मे मनसि लिखिता व्यञ्जनं लब्धवन्तः।
दैवं नूत्नां दिशमुपदिशद् भाति भास्वानकस्मात्,
पादान् धत्ते पुनरविमुखान् सर्वतश्चक्षुरेषः॥

अन्वय- वाष्पाः निश्वासशब्दाश्चापि प्रकृतसफला जाताः। मे मनसि लिखिता संदेशा अपि व्यंजनं लब्धवन्तः। दैवं नूत्नां दिशम् उपदिशत्। भास्वान् अकस्मात् भाति। एष सर्वतश्चक्षुः पुनः अविमुखान् पादान् धत्ते।

अनुवाद- आँसू और निःश्वास शब्द भी आरंभ किए हुए कार्य में सफल हो गए। मेरे मन में अंकित संदेश भी अभिव्यंजित हो गए (भगवान् के पास पहुँच गए)। भाग्य नई दिशा दे रहा है। अचानक (भाग्य) सूर्य का उदय हो रहा है। यह सर्वज्ञ पुनः अविमुख पैरों को धारण कर रहा है। (मेरी ओर पदन्यास कर रहा है। पैरों को बढ़ा रहा है)।

व्याख्या-समुच्चय अलंकार है। एक कार्य की सिद्धि के लिए एक कारण के होते हुए भी कारणों की उपस्थिति समुच्च्य अलंकार है। तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्करं भवेत् समुच्चयोऽसौ-काव्यप्रकाश 10.116

प्रकृत सफला=आरम्भ किए हुए कार्य में सफल। प्रकृत=आरम्भ किया हुआ, शुरू किया हुआ, नियुक्त किया हुआ।

व्यञ्जनम्-स्पष्ट करना, प्रकट करना।

दैव=भाग्य, नूत्ला=नया, नवीन

प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नवः

नूलश्च-अमरकोश 3.1.78

नव+त्न प्रत्यय। नवस्य नूरादेशस्त्नप्तनप्खाश्च प्रत्यया (वार्षिक 5.4.30) से नव का नू आदेश त्न प्रत्यय करने पर नूत्न बना है। सर्वतश्चक्षुः में परिकर अलंकार।

(५४)

केयं माया व्यरचि विधिना भ्रान्तिराहो प्रवृत्ता,
स्वप्नोऽलोकि क्वचन कुहकं केनचित् प्रस्तुतं वा।
मोघानेतान् व्यधिषि विकलान् कांश्चिदुच्चैर्विलापान्,
देवः साक्षाद् विहरति पुरः पावनो मां पुनानः॥

अन्वय- केयम् विधिना माया व्यरचि आहो भ्रान्तिः प्रवृत्ता। क्वचन स्वप्नो अलोकि केनचित् कुहकम् प्रस्तुतम् वा। एतान् मोघान् विकलान् कांश्चित् विलापान् व्यधिषि। मां पुनानः साक्षात् देवः पुरः विहरति।

अनुवाद- (भगवान् जब चन्दनबाला की ओर लौटने लगे तब वह सोचती है) क्या यह विधि के द्वारा माया की रचना की गई अथवा भ्रान्ति हो गयी। मै कोई स्वप्न देख रही हूं अथवा किसी ने इन्द्रजाल (ठगी) प्रस्तुत कर दिया है। व्यर्थ ही मैंने इतना प्रलाप किया क्योंकि मुझको पवित्र करने वाले साक्षात् देव मेरे सामने खड़े हैं (सामने आ रहे हैं)।

व्याख्या- जब अचानक कोई कार्य सफल हो जाए तो सहसा विश्वास नहीं होता है। चंदना की जन्मजन्मान्तर की साधना आज सफल हो रही है, उसे कैसे सहसा विश्वास हो जाए। वैसी स्थिति में सामान्य मनुष्य की क्या स्थिति होती है इसका मनोवैज्ञानिक चित्रण कवि ने सुन्दरता से किया है। अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

(५५)

प्राप्याऽप्राप्यं प्रथमपलकेऽन्तर्गतानां व्यथानां,
प्रादुर्भावो भवति नियमो नैष जातोऽत्र वन्ध्यः।
तासां जाता स्मृतिरभिनवा प्रस्तुतानां, गतानां,
वाक् संवृत्ता भगवति पुरस्तादुपालम्भलोला॥

अन्वय- अप्राप्यम् प्राप्य प्रथम पलके अन्तर्गतानाम् व्यथानाम् प्रादुर्भावो भवति। एष नियम अत्र वन्ध्यो न जातः। तासाम् गतानाम् अप्रस्तुतानाम् स्मृति अभिनवा जाता। भगवति पुरस्तात् उपालम्भलोलावाक् संवृत्ता।

अनुवाद– अप्राप्य (दुर्लभ) वस्तु को प्राप्त कर प्रथम क्षण में अन्तर्गत दुःखों का प्रादुर्भाव होता है (आन्तरिक व्यथा बाहर आ जाती है) यह नियम यहाँ भी निष्फल नहीं हुआ। चन्दनबाला के अतीत और वर्तमान के दुःखों की स्मृति अभिनव हो गयी। उपालम्भ देने के लिए बेचैन उसकी वाणी भगवान् के सामने प्रस्तुत हुई।

व्याख्या– मानवीय मनोविज्ञान का सुन्दर चित्रण कवि ने किया है। जब व्यक्ति को किसी दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तब उसकी दशा कैसी होती है, इसके सफल चित्रण में महाकवि चतुर है। जिसके लिए कठोर कष्ट, अनगिनत यातनाएं सहनी पड़ती हैं, उसकी प्राप्ति हो जाने पर मनुष्य की दशा विलक्षण हो जाती है। कठोर तपसाधना से जब भगवान् शंकर अचानक प्रकट होते हैं तो पार्वती की दशा बड़ी विचित्र बन जाती है:

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिः

निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।

मार्गाचलव्यतिकरा कुलितेव सिन्धुः

शैलाधिराज तनया न ययौ न तस्थौ॥ (कुमार 5/85)

वन्ध्य=निष्फल, बाँझ, निरर्थक।

गतानाम्=अतीतानाम्=बीते हुए, प्रस्तुतानाम्–वर्तमानानाम् वर्तमान के

पुरस्तात्–(अव्यय) आगे, सामने

पुरस्तादनुपेक्षनीयम्–रघुवंश 2/44

पुरस्तात्पुरशासनस्य–कुमारसंभव 7.30

एतत्पुरस्तात्–मेघदूत 1.15

स्मृतिः –याद, प्रत्यास्मरण। जिसमें ज्ञात वस्तु को पुनः जाना जाता है वह स्मृति है। अतीत में ज्ञात वस्तु को पुनः याद करना स्मृति है।

इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार का उत्कृष्ट प्रयोग है।

(५६)

राज्यं त्यक्तुं परनृपतिना पारवश्यं प्रणीता,
प्राणान्तोऽपि स्फुटितनयनैरेभिरालोकि मातुः।
वेश्याहर्म्येऽप्यरुचिगमनं प्रापिता विक्रयेण,
विक्रेत्राहँ विपणिसरणौ मूल्यमायोजि भूयः॥

(५७)

बद्धा क्रूरं करचरणयोः शृंखलैरायसैर्हा,
मूर्तिं प्राप्ता विकचशिरसि प्रज्वलन्त्यः शलाकाः।
कष्टाश्रूणां सरिति सततं मग्नमास्यं विलोक्य,
त्वां यत्फुल्लं तदपि भगवन्! न त्वया द्रष्टुमिष्टम्॥ *(युग्मम्)*

अन्वय- पर नृपतिना राज्यं त्यक्तुम् पारवश्यं प्रणीता। एभिः स्फुरित नयनैः मातुः प्राणान्तोऽपि आलोकि। विक्रयेण वेश्याहर्म्ये अरुचिगमनम् अपि प्राप्रिता। भूयः विक्रेत्राहँम् मूल्यमायोजि। आयसैः शृंखलैः कर चरणयोः क्रुरम् बद्धा। हा मूर्तिं प्राप्ता। विकच शिरसि प्रज्चलन्त्यः शलाकाः। कष्टाश्रूणां सरिति आस्यम् सततम् मग्नम्। भगवन्! त्वाम् विलोक्य यत्फुल्लम् तदपि न त्वया द्रष्टुमिष्टम्।

अनुवाद- शत्रु राजा (शतानीक) ने राज्य छोड़ने के लिए मुझे अधीन कर लिया। अपनी स्फुट आँखों से माता को मरते हुए भी देखा। न चाहते हुए भी वेश्या के घर बिक जाना पड़ा। पुनः बाजार में बेचने के लिए मेरा मूल्य लगाया गया। लौह शृंखलाओं से मेरे हाथ-पैर को कठोरता से बाँध दिया गया। हाय मैं मूर्ति रूप हो गयी। मुण्डित माथे पर प्रज्वलित शलाकाओं (से दागा गया) इस प्रकार दुःख के आँसुओ की सरिता में मेरा मुख हमेशा निमग्न रहा। भगवान् आपको देखकर जो (दुःखी) आँखे खिल गयीं, उन्हें भी देखना आपने उचित नहीं समझा।

व्याख्या- यहां पर 56-57 श्लोक युग्म हैं। एक वाक्य यदि दो श्लोकों में समाप्त हो उसे युग्म या युग्मक कहते हैं।

द्वाभ्याम् तु युग्मकम्-साहित्यदर्पण 6.314। ध्वन्यालोक, अग्निपुराणकार एवं हेमचन्द्र ने इसे संदानितक कहा है। पर्याय अलंकार का सुन्दर उदाहरण है। काव्यलिंगालंकार भी है।

(५८)

गर्भेऽप्यर्भस्त्वमिह भगवन्! मातरञ्चानुकम्प्य,
सद्योऽरौत्सीः सहजचलनं लक्ष्म गर्भं गतानाम्।
धाराश्रूणामगमदुदयं सौधमध्ये वरिष्ठा,
को जानीयाज्जगति महतां साशयं चेष्टितानि॥

अन्वय-भगवन्! त्वमिह मातरम् अनुकम्प्य गर्भम् गतानाम् लक्ष्म सहजचलनम् सद्यो अरौत्सीः। सौधमध्ये अश्रूणाम् वरिष्ठा उदयम् अगमत्। जगति महतां साशयम् चेष्टितानि को जानीयात्।

अनुवाद- भगवन्! गर्भकाल में अपनी माता पर अनुकम्पा कर गर्भस्थ जीवों (गर्भ में आए जीवों) के लक्षण सहज चलन (हलन-चलन) को भी सद्यः रोक दिया।(गर्भस्थ बच्चे को मृत समझकर) महल में आँसुओ की वेगवती धारा बह चली (सभी रोने लगे)। संसार में महान् पुरुषों की साभिप्राय चेष्टाओं को कौन जान सकता है।

व्याख्या- महावीर भगवान् जब गर्भावस्था में थे तो बच्चे के जीवन का लक्षण—सहज हलन चलन को भी उन्होंने परित्याग कर दिया। इससे बच्चे को मृत समझकर सभी रोने लगे। कल्पसूत्र (87-88), आवश्यक चूर्णि चउप्पन्न महापुरिसचरियं, महावीरचरियं और त्रिषष्ठी शलाका पुरुष चरित्र में एक प्रसङ्ग है कि जब गर्भ में भगवान् थे तब उन्होंने सोचा—मेरे हिलने-डुलने से माता को कष्ट होता है। मुझे इसमें निमित्त नहीं बनना चाहिए। यह सोचकर वे निश्चल हो गए। अंगोपांगों को भी सिकोड़ लिया। माता यह सोचकर कि बच्चे का क्या हुआ, क्या वह मर गया? दहाड़ मारकर रोने लगी। सारा परिजन वर्ग रोने लगा। भगवान् ने सोचा—यह तो बात उल्टी हो गयी। लोगों को मेरे कारण और अधिक

कष्ट हो गया—ऐसा विचार कर अपने शरीर को पुनः स्वाभाविक स्थिति में ला दिया।

गर्भम् गतानाम्=गर्भ में प्राप्त हुए जीवों का लक्षण=चिह्न, सहज चलनम्=सहज हलन–चलन।

अरौत्सी–रुध आवरणे धातु लुङ्लकार मध्यम पुरुष एकवचन। त्याग दिया, रोक दिया।

सौध=विशाल भवन, महल, बड़ी हवेली। सौधवास मुटजेन विस्मृतः –रघुवंश 19.2

काव्यलिङ्ग, कारणमाला, अर्थान्तरन्यास, अर्थापति आदि अलंकार हैं।

अनुकम्प्य–अरौत्सी–कारण कार्य काव्यलिंग–आँसुओ का उदय का कारण गर्भस्थ भगवान् का हलन–चलन बन्द होना, बन्द होने का कारण माता पर कृपा। इस प्रकार कारण परम्परा अलंकार।

अर्थान्तरन्यास–को जानीयत्–चेष्टितानि से पूर्व का समर्थन।

को जानीयात्–कौन जान सकता है अर्थात् कोई नहीं–अर्थापति अलंकार। माधुर्य गुण करुणा रसाभास। भगवान् का मरण जानकर आँसुओ की धारा बही लेकिन वास्तविक मरण हुआ नहीं। केवल करुणारस का आभास। अनुकम्पा का बिम्ब। आँसुओ एवं महल में रुदन का बिम्ब भी बन रहा है।

(५९)

ज्येष्ठभ्रातुर्नयन–सलिलं त्वामरौत्सीद्दिदीक्षुं,
मन्ये जन्माऽभवदिह तव प्रोञ्छितुं वाष्पधाराम्।
वाष्पान् वोढुं किमपि विवशा स्वामिनाऽहं कृतास्मि,
दैवे वक्रे भवति हि जगत् प्राञ्जलञ्चापि वक्रम्॥

अन्वय–ज्येष्ठभ्रातुः नयन सलिलम् त्वाम् दिदीक्षुं अरौत्सीत्। मन्ये वाष्पधाराम् प्रोञ्छितुम् तव इह जन्म अभवत्। किमपि अहं वाष्पान् वोढुम्

स्वामिना विवशाकृता। हि दैवे वक्रे प्राञ्जलम् जगत् अपि वक्रम् भवति।

अनुवाद–ज्येष्ठ भ्राता (नन्दिवर्धन) के नेत्र सलिल (आँसुओं) ने दीक्षा लेने की इच्छा वाले तुमको (दीक्षा लेने से) रोक दिया था। मैं मानती हूँ कि यहाँ तुम्हारा जन्म आँसुओं को पोंछने (संसार के दुःख को दूर करने) के लिए ही हुआ है। किन्तु मुझे आँसुओं के भार को ढोने के लिए स्वामी ने क्यों विवश किया? क्योंकि भाग्य के टेढ़े होने पर निश्छल जगत् भी वक्र (टेढ़ा) हो जाता हैं।

व्याख्या–उपालंभ का स्वर अनुगूंजित है। भगवान् का जन्म संसार के दुःखों के विनाश के लिए हुआ है तो फिर चन्दनबाला की वेदना को कैसे नहीं समझ पाए। समय, काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि कारणों के अतिरिक्त एक अन्य प्रबल कारण नियति भी है। भाग्य है। भाग्य के टेढ़े हो जाने पर सब कुछ टेढ़ा हो जाता है। भाग्य की बलवत्ता पर महाप्रज्ञ ने यहाँ बल दिया है। नन्दिवर्धन का पौराणिक संदर्भ निर्दिष्ट है। आचारांग और कल्पसूत्र में निर्देश है कि भगवान् के ज्येष्ठ भाई का नाम नन्दिवर्धन था। शीलांक ने नन्दिवर्धन को छोटे भाई के रूप में उल्लेख किया है।

आवश्यक चूर्णि पृ. 249, आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति पृ.183, मलधारी वृत्ति 260 तथा गुणचन्द्रकृत महावीरचरियं पृ.134 में निर्दिष्ट है कि 28 वर्ष के उम्र में भगवान् ने अपने नन्दिवर्धन, सुपार्श्व आदि स्वजनों को बुलाकर कहा–"मैं अब दीक्षा ग्रहण करूंगा"। नन्दिवर्धन का शोक द्विगुणित हो गया। उसने भगवान् से कहा—अभी माता-पिता के वियोग दुःख को हम विस्मृत ही नहीं कर पाए कि तुम दीक्षा ग्रहण करने लगे। अभी दो साल तक रुको, हमारा शोक शान्त हो जाएगा, तब दीक्षा ग्रहण करना। बाद में भगवान् ने दीक्षा ग्रहण की।

प्राञ्जलम्=निश्छल, निष्कपट, स्वच्छ। वक्र=छल, कपट। दैव=भाग्य। इस श्लोक में विभावना, विशेषोक्ति और अर्थान्तरन्यास अलंकार है। सुन्दर सूक्ति है।

(६०)

श्रद्धेयानामधिकृतमिदं चित्रमस्ति प्रभुत्वं,
श्रद्धालूनां विसदृशमहो चेतसः सौकुमार्यम्।
भारं स्फारं वहति यदहो तानुपालब्धुमारा-
दासन्नांश्च प्रति भवति तत् स्विन्नमास्था प्रगल्भम्॥

अन्वय-अहो श्रद्धालुनाम् चेतसः विसदृशम् सौकुमार्यम् यदहो (तान्) उपालब्धुम् स्फारम् भारम् वहति। आरात् तान् आसन्नान् प्रति तत् प्रगल्भम् आस्थास्विन्नम् भवति। श्रद्धेयानाम् इदम् चित्रम् प्रभुत्वम् अधिकृतमस्ति।

अनुवाद-धन्य है श्रद्धालुओं के चित्त की विलक्षण सुकुमारता। क्योंकि अपने श्रद्धेय को उपालम्भ देने के लिए वह अधिक भार वहन करता है (सोचता रहता है) लेकिन अपने निकट आए हुए श्रद्धेय को प्राप्त कर उसकी प्रगल्भता (उपालम्भ देने की शक्ति) आस्था (श्रद्धा) से पसीज जाती है। श्रद्धेय जनों की यह अद्‌भुत प्रभुता फैली रहती है।

व्याख्या-भक्तजनों के हृदय की सुकुमारता और स्वामी की महिमा का वर्णन किया गया है। स्फार=अधिक, पुष्कल, बड़ा स्फाय् धातु से रक् प्रत्यय। आरात्=(अव्यय) निकट, पास, दूर, दूरस्थ यहाँ पर निकट अर्थ है।

प्रगल्भम्=हिम्मत, उत्साह, संकल्प। प्र उपसर्गपूर्वक गल्भ धाष्ट्र्ये (भ्वादिगणीय) धातु से अच् प्रत्यय।

स्विन्नम्-स्वेदितम्=पसीज गया। स्विद्+क्त प्रत्यय।

प्रभुत्वम्-आधिपत्यम्, स्वामित्वम्, अधिकारः शासनम् वा। प्रभु+त्व।

काव्यलिंग, विभावना, विशेषोक्ति, विरोध, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार हैं।

(६१)

पीडाकूले जिनवरमसौ दीर्घनिःश्वासवात-
क्षिप्तैर्दूरं स्नपयितुमिव प्राभवच्छीकरौघैः।
यच्छ्रद्धेयानरतिनिरता आक्षिपेयुश्च तत्र,
स्नेहोत्कर्षस्तदिह कृतिभिः सन्ति ते वन्दनीयाः॥

अन्वय–असौ पीडाकूले जिनवरम् दीर्घ निःश्वास वातक्षिप्तैः शीकरौघैः दूरम् स्नपयितुम् इव प्राभवत्। यत् अरतिनिरताः श्रद्धेयान् आक्षिपेयुः। तत्र स्नेहोत्कर्षः। तदिह ते कृतिभिः वन्दनीयाः सन्ति।

अनुवाद–वह चन्दनबाला पीड़ा रूप नदी (चंदना की पीड़ा नदी) के तट पर स्थित जिनवर भगवान् को दीर्घ निःश्वास रूप पवन से फेंके गये आँसुओं के बूँदों से (बौछार से) दूर से ही मानो स्नान कराने में समर्थ हो गयी। पीड़ासक्त (चिन्तातुर) व्यक्ति श्रद्धेयजनों पर ही आक्षेप करते हैं। यहाँ पर (आक्षेप करने में) स्नेह का उत्कर्ष ही कारण है। इसलिए इस संसार में श्रद्धालु विद्वानों के द्वारा वन्दनीय होते हैं।

व्याख्या

कूल=तट, किनारा।

शीकर वायुप्रेरित छींटे, बौछार, सूक्ष्मवृष्टि

औघ=बाढ़, जलप्लावन।

शीकरौघ बूँदों की बौछार।

अरति निरता–कष्टासक्ता। अरति=पीड़ा, कष्ट, चिन्ता, खेद, बेचैनी। निरत=संलग्न, अनुरक्त, आसक्त, लगा हुआ।

कृतिभि=विद्वद्भिः पण्डितैः चतुरैर्वा। विद्वानों के द्वारा।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा, रूपक, काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास अलंकार है। स्नपयितुमिव–उत्प्रेक्षा, पीडाकुले, निःश्वास–वात–रूपक अलंकार।

अरति निरता–आक्षिपेयुः काव्यलिंग, अन्तिम विशेष का पूर्व के द्वारा समर्थन–अर्थान्तरन्यास अलंकार, माधुर्य गुण।

(६२)

तीव्रं नग्नंकरणमनिलं फाल्गुनं वेगवन्तं,
किं न्यक्कुर्यात् परिणतदला काममारामराजिः।
तस्मादन्यः परिमलवहः पुष्पकालेऽपि न स्याद्,
यस्माद् रंहः सहनमुचितं स्वोदयस्य प्रसिद्ध्यै॥

अन्वय-तीव्रम नग्नंकरणम् वेगवन्तम् फाल्गुनम् अनिलम् परिणतदला आरामराजिः किं न्यक्कुर्यात्? तस्माद् पुष्पकालेऽपि अन्यः परिमलवहः न स्याद्। यस्माद् स्वोदयस्य प्रसिद्ध्यै रंह सहनम् उचितम्।

अनुवाद-तीव्र, नग्न करने वाला और वेगवान फाल्गुन (मास के) पवन को परिणतदल वाले (पके पत्ते वाले) बगीचे क्या अपमानित करते हैं (तिरस्कार करते हैं)। (यदि वे तिरस्कार करें तो) उस पवन को छोड़कर अन्य कौन पुष्प आने पर (वसन्तकाल में) उनके सुगंधी को फैलायेगा? इसलिए अपने अभ्युदय की प्रसिद्धि के लिए वेग (अन्याय) को सहन करना उचित है।

व्याख्या-जीवन की सफलता का सूत्र महाकवि ने इस श्लोक में निर्देश किया है। अपने अभ्युदय के लिए अन्याय का सहन उचित होता है। पवन (अनिल) के लिए कवि ने अनेक साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग किया है इसलिए परिकरालंकार है।

तीव्रम्=कठोर, प्रचण्ड, उग्र 'तीव-स्थौल्ये' धातु से रक् प्रत्यय।

नग्नं करणम्-नंगा कर देने वाला। फाल्गुनी पवन शरीर से वस्त्र उतारकर नंगा बना देता है। वेगाधिक्य और प्रचंडता संसूचित है। नग्न+च्वि+कृ+ल्युट्। वेगवन्तम्= वेगवान्। फाल्गुनम्=फाल्गुन मास में बहने वाला, आरामराजिः - वन पंक्ति। आराम=बगीचा, जंगल, राजिः पंक्ति।

किं न्यक्कुर्यात्? क्या तिरस्कार करते हैं। न्यक् (नि उपसर्गपूर्वक अंचू+क्विन्) शब्द क्रियाविशेषण। घृणा, अपमान और दीनता को घोषित करने वाला उपसर्ग। कृ और भू धातु के पूर्व में प्रयुक्त होता है। परिमल=सुगंधी।

अर्थान्तरन्यास अलंकार भी है। ओजगुण एवं माधुर्य गुण।

(६३)

घोरे तापे सततमवहद् वाष्पधारा विचित्रं,
शैत्ये लब्धे भगवति पुनः सम्मुखीने क्षणेन।
सा संरुद्धा विरलतनवः केवलं बिन्दवस्ते,
तस्थुर्भिक्षा-ग्रहण-सरणिं स्वामिनो द्रष्टुमुत्काः॥

अन्वय-घोरे तापे वाष्पधारा सततम् अवहत् (इति)। पुनः भगवति सम्मुखीनेः शैत्ये लब्धे क्षणेन सा संरूद्धा। केवलम् ते विरलतनवः बिन्दवः तस्थुः (ये) स्वामिनो भिक्षाग्रहण-सरणिम् द्रष्टुमुत्काः।

अनुवाद-यह आश्चर्य है कि चन्दनबाला के हृदय में घोर ताप के विद्यमान होने पर लगातार आँसुओ की धारा बही। पुनः भगवान् के सम्मुख आने पर ताप के शान्त होने पर क्षणभर में वह धारा रुक गयी। केवल वे ही अल्प दुबली बूंदें बच गईं जो स्वामी महावीर के भिक्षाग्रहण विधि को देखने के लिए लालायित थी।

व्याख्या-जब हृदय में विरह की, दुख की पीड़ा की ज्वाला जल रह थी तब बाहर आँसुओ की अविरल धारा बह रही थी। भगवान् के आने पर हृदय शान्त हुआ तो वह धारा भी शान्त हो गयी-यह आश्चर्य है। ताप होने पर धारा सूख जाती है लेकिन यहाँ तो और तेज हो गयी। कारण ताप होने पर कार्य का अभाव-विशेषोक्ति अलंकार। धारा का शान्त होना कार्य है, लेकिन शान्त होने का कारण ताप अविद्यमान है इसलिए विभावना अलंकार। जो देखना चाहते थे-कारण वे शेष रह-गये कार्य। कारण-कार्य होने से काव्यलिंग अलंकार। विरल-कम, थोड़ा तनु-तनवः पतला।

(६४)

बोद्धुं नालं स्वमतिरचिते जीवनस्याध्वनीह,
गर्ता: शैला: कति च कति वा मोटनानि भ्रमा वा।
अन्यं कश्चित् व्रजति तनुमानेकमुल्लङ्घ्य पूर्व-
मावर्तं तद् भवति सहसा विस्मृति: प्राक्तनस्य॥

अन्वय-इह स्वमतिरचिते जीवनस्य अध्वनि कति गर्ता: शैला: कति च मोटनानि भ्रमा वा न बोद्धुं अलम्। तनुमान एकम् आवर्तम् उल्लंङ्घ्य अन्यं कञ्चित् व्रजति तद् प्राक्तनस्य सहसा विस्मृति: भवति।

अनुवाद-अपनी ही मति से रचित इस जीवन मार्ग में कितने गर्त (गड्ढे) पर्वत और कितने घुमाव और चक्कर (भंवर) हैं, इसे नहीं जान सकते हैं। मनुष्य एक चक्कर (भँवर) को लांघकर अन्य किसी दूसरे चक्कर में पहुँच जाता है। उस समय (दूसरे चक्कर में जाने पर) पहले की सहसा विस्मृति हो जाती है। (भूल जाता है।)

व्याख्या-जीवन-यात्रा का व्यावहारिक चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है। स्वभावोक्ति अलंकार।

अध्वनि=मार्ग में। मोटनानि=मोड़। भ्रमा=भंवर, चक्र। तनुमान=व्यक्ति आवर्तम्=चक्कर। व्रजति=जाता है। प्राक्तन=पूर्व। सहसा=अचानक, उसी समय।

(६५)

प्रत्येकस्मिन् नियतमुभयो: पार्श्वयो:सन्ति कुम्भा:,
केचित् पूर्णा: प्रवरसुधया हालया भूरयस्तु।
हालोन्मत्ता: प्रथमचरणे ह्यन्यपार्श्वानपेक्षा,
द्वैतीयीकं नयनममलं हन्त नोन्मीलयन्ति॥

अन्वय-प्रत्येकस्मिन् (पथि) उभयो: पार्श्वयो: कुम्भा: नियतम् सन्ति। केचित् प्रवरसुधया पूर्णा: भूरयस्तु हालया। हालोन्मत्ता: प्रथमचरणे अन्य

पार्श्वानपेक्षाः हन्त द्वैतीयीकम् अमलम् नयनम् न उन्मीलयन्ति।

अनुवाद-प्रत्येक मार्ग पर दोनों तरफ घड़े स्थिर रखे हैं। कुछ उत्कृष्ट अमृत से परिपूर्ण हैं, अधिक हाला से। हाला से उन्मत्त व्यक्ति प्रथम चरण में ही अन्य पार्श्व की ओर (अमृत-कलश की ओर) नहीं देखते (केवल हाला की ओर ही देखते हैं)। ओह! द्वितीय पार्श्व भाग की ओर अपनी अमल दृष्टि को नहीं खोलते।

व्याख्या-कवि का स्पष्ट अंकन है कि संसार अच्छाई की ओर न जाकर बुराई की ओर स्वतः चला जाता है। इन्द्रियां अधिक बुराई की ओर ही जाती हैं। प्रतीक का सुन्दर विधान किया गया है। अच्छाई और बुराई के प्रतीक के रूप में अमृत और हाला से परिपूर्ण कुम्भों को उपस्थापित किया गया है। बुराई की ओर सहज प्रयाण होता है। अहंकार, कामादि से उन्मत्त व्यक्ति नीचे ही नीचे चला जाता है, निरन्तर घोर पतन की ओर अग्रसर होता जाता है। हाला अहंकार कामादि का प्रतीक है। काव्यलिंगालंकार है।

हाला=शराब, मदिरा। सुधा=अमृत।

हन्त=प्रसन्नता, हर्ष, करुणा, शोक आदि का अभिव्यंजक अव्यय।

(६६)

उन्मत्तानां दिनमथ निशा नैति कश्चिद्विशेषः,
कार्याकार्ये तनुरपि भिदा नैति तेषां गुणोऽसौ।
यावच्चक्षुर्भवति पिहितं हालया तावदेषां,
सौख्यं पश्चाद् भवति तिमिरं व्याप्तमक्ष्णोः समन्तात्॥

अन्वय-उन्मत्तानाम् दिनमथ निशा कश्चित् विशेषः न एति। कार्याकार्ये तनुरपिभिदा न एति। तेषाम् असौ गुणः। यावत् चक्षुः हालया पिहितम् तावत् एषाम् सौख्यम्। पश्चात् अक्ष्णोः समन्तात् तिमिरम् व्याप्तम् भवति।

अनुवाद–उन्मत्त लोगों के लिए दिन अथवा रात में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है। कार्य और अकार्य में थोड़ा भी भेद न करना उनका गुण है। जब तक आँखें हाला से आच्छादित होती हैं तब तक इनका सुख होता है (इन्हें सुख मिलता है)। उसके बाद आँखों के चारों ओर अन्धकार व्याप्त हो जाता है।

व्याख्या–उन्मत्त की दुर्दशा का चित्रण किया गया है। उन्मत्त व्यक्ति रात-दिन में कोई अन्तर नहीं पाता। कर्तव्य और अकर्तव्य, पुण्य और पाप की भेदिका बुद्धि भी समाप्त हो जाती है। शराब का नशा जब समाप्त होता है तब शेष रहता है–घोर अन्धकार, कभी न समाप्त होने वाला दु:ख। काव्यलिंगालंकार भिदा=अन्तर, (भिद्+अङ्+टाप्)।

अक्ष्णो: समन्तात्=आँखों के चारो ओर।

समन्तात्=चारों ओर, सब ओर से, पूर्ण रूप से।

तिमिरम्=अन्धकार, अन्धापन।

(६७)

अम्भोवाहा विघटनमिमे जृम्भणं चापि यान्ति,
वाता ग्रीष्मं दधति वसनं शीतलं जातु तेऽपि।
भूमिं प्राप्ता अपि जलकणा व्योम-मार्गं श्रयन्ते,
निद्रोन्निद्रा क्रममनुगता केवलं मुद्रितेयम्॥

अन्वय–इमे अम्भोबाहा विघटनम् जृम्भणम् च अपि यान्ति। ते वाता जातु ग्रीष्मम् शीतलम् वसनम् दधति। जलकणा: भूमिं प्राप्ता अपि व्योममार्गम् श्रयन्ते। निद्रोन्निद्रा क्रममनुगता केवलम् इयम् मुद्रिता।

अनुवाद–ये बादल बिखरते हैं और बढ़ जाते हैं। ये पवन गर्म वस्त्र धारण करते हैं तो कभी शीतल। जलकण भूमि को प्राप्त कर आकाश में पहुँच जाते

हैं। मुर्झाना खीलना यह सृष्टि का क्रम है लेकिन यह (अभागिन चन्दन बाला) केवल मुर्झायी ही रही।

व्याख्या–इसमें कवि के सृष्टि के नियम दु:ख-सुख के क्रम का सुन्दर उद्‌घाटन किया है। दु:ख के बाद व्यक्ति सुख को प्राप्त करता है लेकिन बेचारी चन्दना के भाग्य में केवल दु:ख ही रहा।

इमे=ये, अम्भोबाहा=जलधर, मेघ, विघटन—टूटना, श्रृम्भण=बढ़ना। यहाँ स्वाभावोक्ति अलंकार है। सृष्टि के सहज रूप का वर्णन है। विरोध अलंकार भी है।

(६८)

यत् सापेक्षा जगति पुरुषैर्योषितः शक्तिमद्भिः,
सन्ति प्राप्तास्तत इह चिरं भोग्य वस्तुप्रतिष्ठाम्।
चेतोदाढ्‌र्यं प्रकृतिसुलभस्त्याग-भावोऽपि तासा-
मेधोभावं व्रजति सततं कामवह्नौ नराणाम्॥

अन्वय–यत् जगति शक्तिमद्‌भिः पुरुषैः योषितः सापेक्षा तत इह चिरम् भोग्य वस्तु प्रतिष्ठाम् प्राप्ताः। तासाम् चेतोदाढ्‌र्यम् प्रकृति सुलभ स्त्याग भावोऽपि नराणाम् कामवह्नौ सततम् एधोभावं व्रजति।

अनुवाद–चूंकि संसार में शक्तिमान् पुरुषों द्वारा स्त्रियाँ सापेक्ष होती हैं (अधीन रहती हैं) इसलिए यहां पर चिरकाल से (स्त्रियां) भोग्य वस्तु के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी हैं (बन गई हैं) उनकी मानसिक दृढ़ता एवं स्वभाव सुलभ त्याग भावना मनुष्यों की कामाग्नि में हमेशा ईंधन का कार्य करती हैं।

व्याख्या–इस श्लोक में महिलाओं की निसर्ग कोमल वृत्ति एवं उनकी त्यागभावना का उद्‌घाटन हुआ है। जहाँ पर अधिक कोमलता और त्यागवृत्ति होती है वहां शोषण बढ़ जाता है। महिलाओं के साथ भी यही हुआ। रूपक, काव्यलिंग आदि अलंकार हैं। कामवह्नौ एवं भोग्य वस्तु में रूपक है। सापेक्ष

हैं इसलिए भोग्य वस्तु बन गयी–काव्यलिंग। अन्य कारण मन की दृढ़ता और त्याग भावना उनकी भोग्यता में सहायक बन रही है इसलिए समाधि अलंकार भी है। कारणान्तर के योग से कार्यसुलभ हो गए वहाँ समाधिअलंकार होता है।

योषितः –तरुणी, युवति, जवान स्त्री।

युष–सेवायाम् धातु से हसृरु हियुषिभ्य इति (उणादि 1.97) से उणादि इत प्रत्यय।

(६९)

स्त्रीणां प्राणा न खलु विशदं मूल्यमाधारयन्ति,
पुंसां कामा अवितथपथाः स्युर्विधिश्चित्र एषः।
एषा नारी स्वजनवियुतान्याश्रया जीवनस्य,
मूल्यं नीचैर्नयतु बहवो द्रष्टुमित्युत्सुका हि॥

अन्वय–स्त्रीणाम् प्राणाः न खलु विशदम् मूल्यम् आधारयन्ति। पुंषाम् कामा अवितथपथाः स्युः इति विधिश्चित्रः बहवो द्रष्टुमुत्का हि स्वजनवियुता एषा नारी अन्याश्रया जीवनस्य मूल्यम् नीचैः नयतु।

अनुवाद–निश्चय ही स्त्रियों के प्राण स्पष्ट मूल्य को धारण नहीं करते (कोई मूल्य नहीं होता है) पुरुषों की वासना अवितथ पथ वाली (सफल होने वाली) होती है यह विचित्र नियम है। बहुत से लोग यह देखने के लिए लालायित रहते हैं कि स्वजनों से वियुक्त यह नारी पराश्रित होकर जीवन के मूल्य को नीचे गिरा दे।

व्याख्या–वर्तमानकालीन समाज में संभ्रान्त वर्ग में स्त्रियों की कैसी दुर्दशा हो रही है–इसका स्पष्ट रेखांकन महाप्रज्ञ ने किया है।

विशदम्=पवित्र, स्पष्ट। मूल्य–कीमत, मोल, लागत, चरित्र, सिद्धान्त, नैतिकता। स्वभावोक्ति अलंकार है।

(७०)

प्रायो लोकः प्रकृतकुशलो नैव कर्त्तव्य-दक्षः,
द्रष्टुं यत्नं सृजति विगतं नैव सम्पद्यमानम्।
स्त्रीणां भोगश्चिरपरिचितस्तेन तत्रैति मोहं,
नासामन्ये प्रकृतिसुलभाः सद्गुणा द्रष्टुमिष्टाः॥

अन्वय–लोकः प्रायो प्रकृतकुशलो नैव कर्त्तव्यदक्षः। विगतम् द्रष्टुम् यत्नम् सृजति नैव सम्पद्यमानम् स्त्रीनाम्। भोगः चिरपरिचितः तेन तत्र मोहं एति। अन्ये आसाम् प्रकृतिसुलभाः सद्गुणाः न द्रष्टुमिष्टाः।

अनुवाद–मनुष्य प्रायः सम्पन्न कार्यों में कुशल होता है, कर्तव्य-दक्ष नहीं होता है। अतीत को देखने के लिए वह यत्न करता है, वर्तमान के लिए नहीं करता है। स्त्रियों का भोग चिरपरिचित है इसलिए पुरुष (स्त्रियों में) वहाँ मूढ़ हो जाते हैं। अन्य इनमें विद्यमान प्रकृति सुलभ गुणों को नहीं देखना चाहते (गुणों का सम्मान नहीं करते हैं)।

व्याख्या–आचार्य महाप्रज्ञ का समाजशास्त्र स्पष्ट रूप से काव्य के कमनीय धरातल पर अवतरित हुआ है। वही समाज सफल होगा जिस समाज के लोग निम्नलिखित गुणों से परिपूर्ण होंगे—

1. कर्तव्य-दक्षता,

2. वर्तमान को पूर्ण करने का प्रयत्न,

3. सतत जागरूकता,

4. समग्र चिन्तन एवं विधायक सूत्र।

परिकर अलंकार। काव्यलिंग। प्रकृतकुशलो कर्तव्यदक्षः परिकर।

भोग चिरपरिचित-भोग और मोह प्राप्ति=कारण-कार्य भाव है इसलिए काव्यलिंग अलंकार है। माधुर्य गुण।

दग्धोत्स्विन्ना प्रबलदहने पूपिकेयं प्रभूत—
मेषा म्लानाऽतुलहिमदुता वल्लरी चापि जात्या।
एषा यष्टिः किमपि लुलिता हन्त भारातिरेका—
च्चैतन्यं को हरति न खलूद्बोधयेत् कश्चिदेकः॥

अन्वय-इयम् पूपिका प्रबलदहने प्रभूतम् दग्धोत्स्विन्ना एषा। जात्याबल्लरी अतुल हिमदुताम्लाना। एषा यष्टिः भारातिरेकात् किमपि लुलिता। हन्त। चैतन्यम् खलु को न हरति कश्चिद् एक : उद्बोधयेत्।

अनुवाद-यह पूपिका (पुआ) प्रचण्ड अग्नि में अधिक जलकर राख हो गयी। यह श्रेष्ठ जाति की लता हिम से पीड़ित होकर म्लान हो गयी। यह यष्टि (लकड़ी) भार के अतिरेक से किंचित् झुक गयी। हन्त! चैतन्य का हरण कौन नहीं करता है लेकिन कोई एक (विरलेही) उद्बोधक (चैतन्यप्रदाता) होता है।

व्याख्या-अनेक दृष्टान्तों के माध्यम से कवि ने यह स्पष्ट संकेत दिया है कि समाज में, संसार में भ्रम, दुख, पीड़ा, दैन्य, मूर्छा आदि को उत्पन्न करने वाले अनगिनत लोग हैं लेकिन सत्य मार्ग का उपदेशक अत्यल्प हैं। पूपिका, जात्यवल्लरी (श्रेष्ठ बेललता) एवं यष्टि के दृष्टान्त से कवि ने इस तथ्य का उद्घाटन किया है।

पूपिका-पूप् धातु ठन् (इक्) एवं टाप् (आ) प्रत्यय। मीठा पुआ, मालपुआ।

वल्लरी=बेल, लता।

लुलिता=झुकना, चंचल हो जाना, दब जाना।

उत्स्विन्ना=उत् उपसर्ग पूर्वक स्विदा स्नेह मोचनयोः धातु से क्त प्रत्यय हुआ है। समाप्त हो जाना, जलकर राख हो गयी-समाप्त हो गयी।

यष्टिः -यज् धातु+क्तिन् प्रत्यय। लकड़ी, लाठी, खंभा, स्तम्भ।

हन्त=एक अव्यय,जो प्रसन्नता, हर्ष, शोक, अफसोस, करुणा, दया आदि को प्रकट करता है।

दृष्टान्त, काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास अलंकार है। पूपिका, वल्लरी और यष्टि का दृष्टान्त दिया गया है। प्रायः प्रथम तीन पंक्तियों में प्रत्येक में काव्यलिंग अलंकार यानी कारण कार्य-भाव है। चैतन्यम्-अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

(७२)

स्वामिन्नुच्चस्त्वमसि सुतरामग्रहात् प्रस्तराणां,
तेनाद्यन्तं सहजमृदुता त्वां श्रिताभावनानाम्।
एते शैला अधिकृतशिलाः प्रोच्चिताः सञ्चयेन,
सर्वात्मानं दधति परुषं मस्तके क्रूरताञ्च॥

अन्वय-स्वामिन्! स्तराणाम् सुतराम् अग्रहात् त्वम् उच्चः असि। तेन आद्यन्तम् अग्रहात् त्वाम् भावनानाम् सहजमृदुता श्रिता। एते शैला अधिकृतशिलाः सञ्चयेन प्रोच्चिताः सर्वात्मानम् परुषम् दधति मस्तके क्रूरताम् चा।

अनुवाद-स्वामिन्! प्रस्तरों (मूल्यवान् पत्थर, सोना, चाँदी आदि) को पूर्णतया न ग्रहण करने (परित्याग) से आप ऊँचे हैं (दया, दाक्षिणयादि गुणों से युक्त हैं) इसलिए आद्यन्त सहज और मृदु भावनाएँ तुममें विद्यमान हैं। ये पर्वत उत्कृष्ट शिलाओं (मूल्यवान् पत्थरों) के संचय से बने हैं लेकिन ये पूर्णतया कठोर हैं और मस्तक पर क्रूरता को धारण करते हैं।

व्याख्या-इस श्लोक में सुन्दर प्रतीक का प्रयोग कवि ने किया है। पर्वत धनाढ्य लोगों के प्रतीक हैं जो सोना, चांदी, हीरा, जवाहरात आदि से परिपूर्ण होते हैं लेकिन क्रूरता, निर्दयता, अमानवीयता आदि के मूर्त रूप होते हैं। भगवान् इसलिए दयावान् एवं लोककरुण है क्योंकि इन्होंने प्रस्तर (मूल्यवान् सोना आदि) का साशय परित्याग कर दिया। जहां धन है वह शायद ही मानवीयता का विकास देखा जाता है। समाज के कटु सत्य को महाप्रज्ञ ने अपने काव्य में

प्रस्तुत किया है। दृष्टान्त और काव्यलिंग अलंकार है। पर्वत का दृष्टान्त दिया गया है। प्रस्तरों के अग्रहण से तुम श्रेष्ठ हो और श्रेष्ठ भावनाओं के आश्रय हो काव्यलिंग।

(७३)

अन्धा श्रद्धा स्पृशति च दृशं तर्क एषाऽनृता धीः,
श्रद्धा काञ्चिद् भजति मृदुतां कर्कशत्वञ्च तर्कः।
श्रद्धा साक्षाज्जगति मनुते कल्पितामिष्टमूर्तिं,
तर्कः साक्षात् प्रियमपि जनं दीक्षते संदिहानः॥

अन्वय–श्रद्धा अन्धा तर्कःच दृशम् स्पृशति एषा अनृता धीः। श्रद्धा काञ्चिद् मृदुताम् भजति तर्कः कर्कशत्वम् च। श्रद्धा जगति कल्पिताम् इष्टमूर्तिम् साक्षात् मनुते। तर्कः साक्षात् प्रियम् जनम् अपि संदिहानः दीक्षते।

अनुवाद–श्रद्धा अन्धी है और तर्क के आंख है- यह गलत धारणा है। श्रद्धा किसी (अनिवर्चनीय) मृदुता का धारण करती है तो तर्क कर्कशता को। श्रद्धा संसार में अपने द्वारा कल्पित इष्टमूर्ति को प्रत्यक्ष स्वीकार कर लेती है, लेकिन तर्क प्रत्यक्ष उपस्थित प्रिय जन को भी संदेहपूर्वक देखता है।

व्याख्या–श्रद्धा और तर्क की तुलना स्पष्ट हो रही है। संसार में यह प्रचलित धारणा-श्रद्धा अन्धी होती है और श्रद्धालु मूर्ख–यह सर्वथा मिथ्या है। श्रद्धा में अनन्त शक्ति निहित है। उससे मनुष्य वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है। जिसकी सहज प्राप्ति असंभव है। महाकवि का जीवन श्रद्धा का जीवन है। इष्ट के प्रति, गुरु के प्रति और अपने करणीय के प्रति कवि अनन्य श्रद्धा, अकाट्य विश्वास से परिपूर्ण है। अर्थान्तरन्यास अलंकार का उत्कृष्ट प्रयोग हुआ है। प्रथम पंक्ति का शेष तीन पंक्तियों से समर्थन किया गया है। दृशम् स्पृशति, मृदुताम् भजति, आदि उपचार वक्रता के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। च, अपि आदि अव्ययों का प्रयोग किया गया है।

(७४)

चक्षुर्बाह्यां प्रतिकृतिमिमां पश्यति स्वप्रभाभिः,
संस्थानं सत् तदितरदुत त्वग् मनोज्ञेतरा वा।
श्रद्धैवान्तः प्रविशति नृणां हृद्वशीकार एष,
आत्मा प्राप्यो भवति हि जनैस्तर्कणामस्पृशद्भिः॥

अन्वय–चक्षुः स्व प्रभाभिः इमाम् बाह्याम् प्रतिकृतिम् पश्यति संस्थानम् सत् तद् इतरत् उत त्वग् मनोज्ञा इतरा वा। श्रद्धा एव नृणाम् अन्तः प्रविशति। एष हृद्वशीकार। हि तर्कणाम् अस्पृशद्भिः जनैः आत्मा प्राप्यो भवति।

अनुवाद–आँखें अपनी प्रभा द्वारा इस बाह्य आकृति को देखती हैं कि शरीर की बनावट अच्छी है या बुरी, चमड़ी सुन्दर है या असुन्दर। श्रद्धा ही मनुष्यों के हृदय में प्रवेश करती है। यह हृदय का वशीकरण है क्योंकि तर्क से अस्पृष्ट व्यक्ति ही आत्मा को प्राप्त कर सकते हैं।

अनुवाद–श्रद्धा के द्वारा ही आत्मा को प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि सभी ने श्रद्धा के महत्व को स्वीकार किया है।

गीता–श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् 4.39

काव्यलिंग एवं अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

(७५)

श्रद्धे! धीरं व्रज भगवतः पार्श्वदेशे मुमुक्षो-
र्बद्धे काये वहसि वसतिं नेति संकल्पनीयम्।
क्षुद्रे कुम्भे सदपि सलिलं काममाकृष्टमंशो-
र्धाम्नामोघैर्गगनमतुलं व्याप्य किं नाम्बुदःस्यात्॥

अन्वय–श्रद्धे! मुमुक्षुः भगवतः पार्श्वदेशे धीरम् व्रज। बद्धे काये वसतिम् वहसि संकल्पनीयम् न एति। क्षुद्रे कुम्भे सदपि सलिलम् अंशोः अमोघैः धाम्ना

आकृष्टम् अतुलम् गगनम् व्याप्य किम् अम्बुदः न स्यात्।

अनुवाद – श्रद्धे ! मुमुक्षु भगवान् के निकट धीरतापूर्वक जाना। तुम बँधे हुए शरीर में निवास करती हो इसलिए संकल्प-विकल्प (दुविधा) को मत प्राप्त हो जाना। छोटे घड़े में विद्यमान होते हुए भी जल सूर्य की अमोघ किरणों से आकृष्ट अतुल (अनन्त) आकाश को व्याप्त कर क्या (पुनः) बादल नहीं बन जाता है।

व्याख्या–यहाँ कवि साधक को सतर्क कर रहा है कि जब तक साधना सफल न हो जाए, गन्तव्य हाथ न लग जाए, फल प्राप्त न हो जाए, तब थोड़ा भी प्रमाद विनाश का कारण बनता है। उस समय और स्थिति गंभीर हो जाती है जब फल सामने दिखाई पड़ने लगता है, थोड़ी भी शिथिलता, थोड़ा भी संकल्प-विकल्प व्यक्ति को पतन की ओर ले जाता है। सुन्दर दृष्टान्त के द्वारा कवि ने इस तथ्य की अभिव्यंजना की है। जल पहले छोटे घड़े में रहता है, सूर्य की किरणों से आकृष्ट होकर आकाश व्यापी बन जाता है और पुनः मेघ के रूप में परिवर्तित हो जाता है। बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है इसलिए दृष्टान्त अलंकार का उदाहरण है। अर्थान्तरन्यास अलंकार एवं अर्थापति अलंकार भी है।

(७६)

आयातोऽपि व्रजति बहुलो याति लोको यथेच्छं,
स्नेहं पीड़ां स्पृशति न मनो नानुबन्धोऽस्ति यत्र।
श्रद्धापात्रं जनयति मुदं स्वागतश्चाऽपि गच्छन्,
नादायैव व्रजति हृदयं कः प्रियः कोऽप्रियो वा॥

अन्वय–बहुलः लोकः यथेच्छम् याति व्रजति। यत्र अनुबन्धो न अस्ति (तत्र) आयातो अपि मनः स्नेहम् पीड़ाम् (च) न स्पृशति। श्रद्धापात्रम् स्वागतः मुदम् जनयति अपि गच्छन् च हृदयम् आदाय एव व्रजति। कः प्रिय को अप्रियः न वा।

अनुवाद–बहुल संसार (बहुत लोग) आता है जाता है। जिसमें अनुबन्ध (आसक्ति) नहीं होता, उसके आने पर भी मन में स्नेह या पीड़ा का संस्पर्श

नहीं होता है। श्रद्धापात्र (श्रद्धेय) का शुभागमन मोद (प्रसन्नता) को उत्पन्न करता है परन्तु जाते समय हृदय को चुराकर (बलात् लेकर) चला जाता है । कौन प्रिय है कौन अप्रिय है – यह नहीं कहा जा सकता है।

व्याख्या–सहज जीवन का चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है। प्रिय के आगमन पर प्रसन्नता और जाने पर दुःख की तीव्र अनुभूति होती है। अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग आदि अलंकार हैं।

यथेच्छम्=इच्छानुसार, अनुबन्ध=लगाव, आसक्ति, मुदम्=प्रसन्नता, हर्ष।

(७७)

अद्यायातो व्रजति भगवान् दुःस्थितां मामुपेक्ष्य,
तत् को भावी जगति सुमहान् वत्सलो भक्तलोके।
सत्–स्वाधारं त्यजति न पलं स्वात्मना वस्तुजातं,
तेनानन्तं सुरपथमिदं विद्यते व्यापकञ्च॥

अन्वय–अद्य भगवान् आयातः माम् दुःस्थिताम् उपेक्ष्य व्रजति। तत् जगति भक्तलोके सुमहान् वत्सलो को भावी। इदम् सत्–स्वाधारम् वस्तुजातम् पलम् स्वात्मना न त्यजति। तेन इदम् सुरपथम् अनन्तम् व्यापकम् च विद्यते।

अनुवाद–आज भगवान् आए और मुझ दुखियारी (पीड़िता) की उपेक्षा कर चले गए। तब संसार में भक्तजनों में महान् दयालु कौन होगा। यह आकाश अपने पर आधृत विद्यमान वस्तु जगत् को क्षणभर के लिए अपने से अलग नहीं करता है। इसलिए यह आकाश अनन्त और व्यापक है।

व्याख्या–इस श्लोक में काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास अलंकार है। उपालम्भ का स्वर मुखरित हो रहा है। संसार में ऐसा कोई भी नहीं है जो अपने आश्रित की उपेक्षा करता है। भगवान् ने ऐसा क्यों किया? यहाँ पर निन्दा, उपलाभ के ब्याज से भगवान् की स्तुति की गई है इसलिए ब्याज–स्तुति अलंकार है। वत्सलः =दयालु, प्रिय। सत्–स्वाधारम्=विद्यमान अपने आधार को, वस्तु

जगत का विशेषण। सुरपदम्=आकाशम्। किसी व्यक्ति की महानता उसके गुणों पर ही होती है। आकाश इसलिए महान् है क्योंकि वह सबको आधार देता है। अवगासदाण जोग्गं आगासं। अवगाहलक्षणम् आकाशः। आकाशस्य अवगाहः आदि परिभाषा पंक्तियाँ हैं। दृष्टान्त अलंकार भी है।

(७८)

कुल्माषा नाऽजनिषत तवेतः प्रतिक्रान्तिहेतुः,
स्वादोनाम स्पृशति न पलं त्यक्तदेहस्य जिह्वाम्।
निःस्वत्वञ्चाप्यभवदिह नो मुक्तसर्वस्वकस्य,
हर्षोत्कर्षोऽभवदिति यतोऽति प्रयोगो निषिद्धः॥

अन्वय–तव इतः प्रतिक्रान्तिहेतुः कुल्माषा न अजनिषत त्यक्तदेहस्य स्वादो नाम जिह्वाम् पलम् न स्पृशति। इह मुक्तसर्वस्वकस्य निःस्वत्वम् च न अभवत् हर्षोत्कर्षो अभवत् इति। यतः अतिप्रयोगो निषिद्धः।

अनुवाद–भगवान् (भिक्षा लिए बिना) यहाँ से आप लौट गए। इसका कारण कुल्माष (उड़द) नहीं थे। क्योंकि देहासक्ति को त्याग कर देने वाले व्यक्ति की जिह्वा को स्वाद क्षणभर भी स्पर्श नहीं कर पाता है। जो सर्वस्वमुक्त हो चुका है (सम्पूर्ण बन्धन टूट गए हैं) उसके लिए मेरी सर्वस्वहीनता (दीनता) भी (लौटने में) कारण नहीं हो सकती है। इसमें हर्ष का उत्कर्ष ही कारण है क्योंकि अति प्रयोग सर्वत्र वर्जनीय है।

व्याख्या–साधना का प्रथम सोपान है आत्ममीमांसा, अपनी गलतियों को देखना। वही व्यक्ति जीवन-यात्रा में सफल हो सकता है जो अपने दोषों का निरीक्षण करता है, आत्मविमर्श का महत्व सर्वस्वीकृत है। इस श्लोक में कवि ने यह निर्देश किया है कि किसी भी भाव का आधिक्य दुःखकारक होता है। त्यक्तदेह और मुक्तसर्वस्व भगवान् की बन्धन-विमुक्तता को उद्घाटित कर रहे हैं। काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास अलंकार हैं।

निःस्वत्वम्=दरिद्रता, निर्धनता। निःस्व=निर्धन, दरिद्र।

'अतिप्रयोगो निषिद्ध' जीवन के लिए उपयोगी सूक्ति है।

(७९)

एते तारा वियति वितताः सन्ति संप्रेक्षणीया,
येषामायुः क्षणिकमणुकं ज्योतिरास्थानमभ्रम्।
जीवन्त्येते तदपि यदहो भ्राजमाना अजस्रं,
विच्छायानां न खलु भवति प्रस्तुतं तारकत्वम्॥

अन्वय–एते संप्रेक्षनीयाः ताराः वियति वितताः सन्ति येषाम् आयुः क्षणिकम् ज्योतिः अणुकम् आस्थानम् अभ्रम् तदपि यदहो एते अजस्रं भ्राजमानाः जीवन्ति। विच्छायानाम् खलु तारकत्वम् प्रस्तुतम् न भवति।

अनुवाद–ये दर्शनीय तारागण आकाश में फैले हुए हैं। जिनकी आयु क्षणिक है, ज्योति लघु है, स्थान (आधार) बादल है, फिर भी ये अजस्र चमकते हुए (प्रसन्नता के साथ) जीवन धारण करते हैं। जिनका चमक समाप्त हो गया उनका ताराकत्व सिद्ध नहीं होता है अर्थात् तारे नहीं होते हैं।

व्याख्या–इस श्लोक में कवि ने जीवन को सुखमय बनाने के लिए अमोघ सूत्र का निर्देश दिया है। जितना दिन तक ही जीवित रहना हो प्रसन्नता पूर्वक जीवन धारण करें। विपरीत परिस्थितियों में भी जो प्रसन्न रहता है वही मनुष्य कहलाने का अधिकारी है। विभावना विशेषोक्ति अलंकार हैं। आयु की क्षणिकता–कारण है लेकिन चमक (प्रसन्नता) का अभाव रूप कार्य नहीं है इसलिए विशेषोक्ति अलंकार। चमक रूप कार्य है लेकिन उसका कारण आयुष्यादि की अधिकता नहीं है। कारण के अभाव में कार्य का होना विभावना अलंकार है। अर्थान्तरन्यास अलंकार भी है।

(८०)

नान्तः प्रेक्षा विकचनयनेऽप्यामयोऽसौ विसंज्ञः,
कुम्भं पश्यन्नमृतममलं तद्गतं नेक्षतेऽपि।
नूत्नः प्रत्नो व्रजति च लयं व्यश्नुते तद्गतं तत्,
स्थायी प्रेयान् न भवति यतश्चञ्चलप्रेक्षणानाम्।।

अन्वय–विकचनयने अपि अन्तः प्रेक्षा न असौ विसंज्ञः अमयः। कुम्भम् पश्यन् अपि तद्गतम् अमलम् अमृतम् न ईक्षते। नूत्नः प्रत्नः लयम् च व्रजति तद्गतम् तत् वयश्नुते। यतः चञ्चल–प्रेक्षकानाम् प्रेयान् स्थायी न भवति।

अनुवाद–खिली हुई आँखों में अन्तः दृष्टि नहीं है। यह कोई बिना नाम वाला रोग है। घड़े को देखते हुए भी उसमें विद्यमान पवित्र अमृत को नहीं देख पाता। (घड़ा) नया, पुराना होता है और विनष्ट हो जाता है लेकिन उसमें रहने वाला वह (अमृत) हमेशा विद्यमान रहता है। (उस अमृत को प्राप्त नहीं कर पाता है) क्योंकि चंचल दृष्टि (बहिर्जगत् को देखने) वालों का प्रेय कभी स्थिर नहीं होता है।

व्याख्या–इसमें आत्मा की विद्यमानता का निर्देश किया गया है।

विकच=खिला हुआ, विसंज्ञः अमयः बिना नाम वाली बीमारी, नूत्नः=नया, प्रत्नः=पुराना। व्यश्नुते=व्याप्त रहता है। विभावना, विशेषोक्ति और अर्थान्तर–न्यास अलंकार है।

(८१)

यां मन्येऽहं सदयहृदयां मातरं निश्छलात्मा,
सा मामेवं नयति भगवन्! निग्रहं मन्तु–बुद्ध्या।
कश्चित् क्रूरो ग्रह इह परिक्रामतीति प्रभाते,
चित्रं प्राचीं स्पृशति तरणौ नाधुनाप्यस्तमेति॥

अन्वय–भगवन्! अहं निश्छलात्मा याम् सहृदयाम् मातरम् मन्ये सा मन्तुबुद्ध्या माम् एवम् निग्रहम् नयति। इह कश्चित् क्रूरो ग्रहः परिक्रामति। प्रभाते

प्राच्याम् तरणौ स्पृशति अधुना अपि अस्तम् न एति चित्रम्।

अनुवाद-भगवन्! मैंने निश्छल मन से जिस सेठ-पत्नी को सहृदय माता माना था उसी ने अपराध-बुद्धि से (मुझे अपराधी समझकर) इस प्रकार बन्दी बना दिया। ऐसा लगता है कि इस समय कोई क्रूर ग्रह मेरे चारों तरफ परिभ्रमण कर रहा है। प्रात:काल में पूर्वदिशा में सूर्य के उदित होने पर भी यह ग्रह समाप्त नहीं होता है, यह आश्चर्य है।

व्याख्या-प्रस्तुत श्लोक में ग्रह-नक्षत्र विषय लोक-धारणा का विवेचन हुआ है। क्रूर ग्रह के प्रभाव से अच्छा कार्य भी गलत परिणति वाला बन जाता है। चन्दना ने सेठानी को माता समझा था लेकिन सेठानी ने उसे अपनी सौतन समझकर क्रूर कारागृह में डलवा दिया। यह ग्रह-दशा का खेल है। निश्छलात्मा=छलरहित मानस वाली, पवित्र मन वाली। चन्दनबाला का विशेषण है। मन्तु बुद्धया=अपराध बुद्धि से, अपराधिन समझकर। मन्तु=अपराध, कसूर 'मन ज्ञाने' धातु से कमिमनिजनिगामायाहिभ्यश्च (उणादि सूत्र 1.75) से 'तु' प्रत्यय होकर मन्तु बना है। आगोऽपराधो मन्तुश्च अमर. 2.8.26

मन्तु: पुंस्यपराधेऽपि मनुष्येऽपि प्रजापतौ (मे. 57/43)

मन्तु बुद्धया-अपराध बुद्धया। सां चन्दनबाला अपराधिनीति मत्वा।

निग्रहम्-आसेधम्, निग्रहणम्, धरणम् वा। गिरफ्तार, बन्धन, कारागार।

इस श्लोक में काव्यलिंग, विशेषोक्ति, विभावना आदि अलंकार हैं।

अपराधिनी समझना-कारण। कारागार में डलवाना-कार्य। कारण कार्य में काव्यलिंग होता है।

कारण होने पर कार्य का अभाव। सूर्योदय होना कारण है लेकिन ग्रह का दूर होना कार्य नहीं हो रहा है। विशेषोक्ति अलंकार। ग्रह की विद्यमान रूप कार्य का रात्री होना कारण का अभाव है। कारण के अभाव में कार्य का सम्यक् होना विभावना अलंकार है।

(८२)

एषा बद्धा-नृपति-दुहिता नेति किञ्चिद् विचित्रं,
एषा बद्धा त्वयि कृतमतिश्चित्रमेतद् विशिष्टम्।
भावोद्रेकं लघु गतवती विस्मृतात्मा बभूव,
सा का श्रद्धा न खलु जनयेद् विस्मृतिं स्थूलतायाः॥

अन्वय-एषा नृपति-दुहिता बद्धा इति न किंचिद्-विचित्रम्। एषा त्वयिकृतमतिः बद्धा एतत् विशिष्टम् चित्रम्। (सा) लघु भावोद्रेकम् गतवती विस्मृतात्मा बभूव। सा का श्रद्धा (या) खलु स्थूलतायाः विस्मृतिम् न जनयेत्।

अनुवाद-यह राजकुमारी बून्दी बनी है-यह कोई आश्चर्य नहीं है। लेकिन यह आप में समर्पित मति (अनन्यनिष्ठा से युक्त) बन्दी बनायी गई यह विचित्र बात है। (इस प्रकार कहती हुई) वह भावोद्रेक (श्रद्धाविभोर) से युक्त विस्मृतात्मा बन गई (पिछली सब बातों को भूल गई)। वह श्रद्धा कैसी जो स्थूल (दुःख-दैन्य) का विस्मृति न करा दे।

व्याख्या-इस श्लोक में श्रद्धा के महत्त्वपूर्ण पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। श्रद्धासरित के लहरों के उत्पन्न होते ही दुःख-दैन्य के विषसर्प बह कर चले जाते हैं। इनका कहीं पता ठिकाना नहीं रहता है।

नृपतिदुहिता-राज की बेटी, राजकुमारी।

त्वयिकृतमतिः -तुममें स्थिर मति वाली। चन्दनबाला का विशेषण। विभावना, विशेषोक्ति और अर्थान्तरन्यास अलंकार हैं।

(८३)

स्वर्णाभूषा किमपि न चिरादायसी शृंखलाऽभू-
च्छीर्षे श्यामाः सुविकचकचाः प्रोद्गमं लब्धवन्तः।
मन्ये रूपं विकृतमकृतं जातमस्याः क्षणेन,
यन्न श्रद्धाविरचितमहो गाहनीयं विकल्पैः॥

अन्वय-एषा आयसी शृंखला न चिरात् किमपि स्वर्णाभूषा अभूत। शीर्षे श्यामाः सुविकचकचाः प्रोद्गमं लब्धवन्तः। मन्ये अस्याः विकृतम् रूपम्

अकृतम् (रूपम्) जातम्। अहो! यत् श्रद्धा विरचितम् (तत्) विकल्पै न गाहनीयम्।

अनुवाद–यह लौह की शृंखला शीघ्र ही कोई (अवर्णनीय रूप से सम्पन्न) स्वर्णाभूषण बन गई। माथे पर काले-काले खिले हुए केश उत्पन्न हो गए। मानो क्षणभर में उसका विकृत रूप अवर्णनीय लावण्य को प्राप्त हो गया। अहो यह सब श्रद्धा विरचित है, विकल्प (तर्क) के द्वारा इस नहीं जाता जा सकता है।

व्याख्या–इसमें श्रद्धा (भक्ति) के महत्व का वर्णन किया गया है भगवत्कृपा की प्राप्ति होते ही सबकुछ नव्य, भव्य हो गया। दुःख के सारे चिह्न भी समाप्त हो गए। जो कुछ श्रद्धा से प्राप्त हो जाता है उसे तर्क नहीं जान सकते अनन्य श्रद्धा के कारण ही हिमालय पुत्री पार्वती ने जगन्नाथ शिव को प्राप्त किया था। शिव को प्राप्त करते ही पार्वती सारे दुःख-दर्द भूल गई–

अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज

क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते॥ 5/86

श्रद्धा अप्राप्य प्राप्यकारी है। प्रथम श्लोक की व्याख्या देखें। काव्यलिंग, विशेषोक्ति, विभावना, उत्प्रेक्षा और अर्थान्तरन्यास अलंकार हैं।

(८४)

चक्षुर्युग्मं भवति सुभगैः क्षालितं यस्य वाष्पै-
स्तस्यैवान्तःकरणसहजा वृत्तयः प्रेरयेयुः।
पत्न्याः कोष्णैः श्वसनपवनैरश्रुधाराभिषिक्तै-
र्धन्येनाऽहो भवजलनिधेर्दुस्तरं वारि तीर्णम्॥

अन्वय—यस्य चक्षुर्युग्मम् सुभगैः वाष्पैः क्षालितम् भवति तस्य एव सहजा अन्तःकरणवृत्तयः प्रेरयेयुः। अहो पत्न्याः अश्रुधाराभिः सिक्तैः कोष्णै श्वसनपवनैः धन्येन भवजालनिधेः दुस्तरम् वारितीर्णम्।

अनुवाद—जिसकी आँखें सुन्दर (पवित्र) आँसुओ से प्रक्षालित हैं। उसकी ही सहज अन्तःकरण वृत्तियाँ अन्यों को प्रेरित करती हैं। आश्चर्य है, पत्नी की आँसुओ की धारा से सिक्त इषत् उष्ण श्वांस-वायु से धन्य सेठ संसार-सागर के दुस्तर जल को पार कर गया।

व्याख्या—इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

सुभगैः-सुभग शब्द का तृतीया बहुवचन। रमणीयैः पवित्रैः। रमणीय, पवित्र, सुन्दर, आकर्षक, मनोरम। भवजलनिधेः में रूपक अलंकार है। प्रथम दो पंक्तियों में सामान्य का विवेचन है, शेष दो पंक्तियों में विशेष का। विशेष के द्वारा सामान्य के समर्थन से अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

(८५)

मूका पृथ्वी स्थगनमनिलाः प्रापुराशङ्कितोऽभूद,
भानुर्मौनं गगनमभजद् ह्रोतुमास्यं दिशैक्षि।।
एते भावा अजनि-निधनाः साक्षिणः सन्ति नित्यं,
दृष्टाः शक्तैः प्रकृतिविबला शोष्यमाणा अमीभिः॥

अन्वय—पृथ्वी मूका, अनिलाः स्थगनम् प्रापुः, भानुः आशंकितो अभूत्, गगनम् मौनम् अभजत। दिशा आस्यम् ह्रोतुम् ऐक्षि। एते अजनि-निधना भावाः साक्षिणः सन्ति, नित्यम् दृष्टाः अमीभिः शक्तैः प्रकृतिविबला शोष्यमाणा।

अनुवाद—पृथ्वी मूक थी, हवाएँ स्थगित हो गयी, सूर्य आशंकित हुआ, गगन मौन हो गया, दिशाएँ मुँह छिपाना चाहती थीं। ये जन्म और मृत्यु से रहित (अनादि-निधन) पदार्थ साक्षी हैं और हमेशा से देखते आए हैं कि संसार में इन शक्तिमान् पुरुषों के द्वारा असमर्थ व्यक्ति शोषित किए जाते हैं।

व्याख्या—इस श्लोक में समाज का स्पष्ट रूप कवि ने अंकित कर दिया है। यहां निर्दिष्ट है कि किस तरह सामर्थ्यवान्, धनवान् लोग क्रूरता का आचरण कर समाज के गरीब लोगों का शोषण करते हैं। तुल्ययोगिता अलंकार। प्रस्तुत

अथवा अप्रस्तुतों का एक धर्म कथन किया जाए तो तुल्य योगिता अलंकार होता है। यहाँ पर पृथ्वी, अनिल, भानु, गगन आदि पदार्थों का द्रष्टा के साथ एकधर्म कथन है। अर्थान्तरन्यास अलंकार भी है।

(८६)

शोषं पृथ्वी नयति पवनो वा द्रवं तापनोऽपि,
व्योम्ना दिग्भिर्भूवनमखिलं स्वोदरे क्वापि नीतम्।
वाणीमस्या अवितथपथां प्रस्तुतां स्वामिनोऽग्रे,
नाह्वातुं ते प्रकृतिविवशा लेभिरे वाचमर्हाम्॥

अन्वय—पृथ्वी पवनो तापनः वा द्रवम् शोषम् नयति। व्योम्ना दिग्भिः स्वोदरे अखिलम् भूवनम् क्वापि नीतम्। स्वामिनो अग्रे अस्याः प्रस्तुताम् अवितथपथाम् वाणीम् आह्वातुम् ते प्रकृतिविवशा अर्हाम् वाचम् न लेभिरे।

अनुवाद—पृथ्वी, पवन अथवा सूर्य द्रव (तरल) वस्तु को सोखते हैं। आकाश और दिशाओं ने अपने उदर में सम्पूर्ण भूवन को छिपा दिया है। भगवान् महावीर के सामने चन्दनबाला की इस प्रकार कही गई सत्य वाणी को चुनौती देने के लिए ये स्वभाव से विवश (शोषण स्वाभाव वाले पृथ्वी आदि) उचित वाणी न प्राप्त कर सके।

व्याख्या—व्यथित चन्दनबाला अपनी व्यथा को एक-एक कर भगवान् के सामने निवेदित कर रही है। प्रकृति जगत् के शोषण के ब्याज से महाकवि ने यह स्पष्ट किया है कि जो शोषण करने वाले लोग हैं शोषण करना उनका स्वभाव बन जाता है। चाहकर भी नहीं छोड़ सकते हैं। पृथ्वी पवन, तापन आदि का लेभिरे एक धर्म के साथ सम्बन्ध है। इसलिए तुल्ययोगिता अलंकार है। काव्यलिंग अलंकार भी है।

(८७)

भक्त्युद्रेकात् स्मृतिमपि तनुं नाप्यकार्षीत् क्षुधाया,
वाञ्छापूर्त्यै सघनमनसा स्थैर्यमालम्भि तस्याः।
सन्देहेनाऽनुपलमुदयं गच्छताऽभूच्छ्लथा वाक्,
सर्वे सूक्ष्माः परमगुरुताऽभूत् प्रतीक्षा-क्षणानाम्॥

अन्वय—भक्त्युद्रेकात् क्षुधायाः तनुम् स्मृतिम् अपि न अकार्षीत्। तस्याः वाञ्छापूर्त्यै सधनम् स्थैर्यम् आलम्भि। अनुपलम् उदयम् गच्छता सन्देहेन (तस्याः) वाक् श्लथाऽभूत्। प्रतीक्षाक्षणानाम् सर्वे सूक्ष्माः परम गुरुता अभूत्।

अनुवाद—भक्ति के उद्रेक से चन्दनबाला को क्षुधा की अल्प स्मृति भी नहीं रही। उसकी वाच्छापूर्ति के लिए (उसका) मन पूर्ण रूप से स्थैर्य (स्थिरता) को प्राप्त कर लिया। प्रतिक्षण उदित होने वाले सन्देह के कारण उसकी वाणी श्लथ (शिथिल) हो गयी। प्रतीक्षा क्षण में सभी सूक्ष्म वस्तुएँ भी परम गुरु, (लम्बी) बड़ी हो जाती है।

व्याख्या—भक्ति के विविध सोपानों का वर्णन इस श्लोक में महाकवि ने किया है। भक्ति से क्षुधादि पीड़ा का लोप एवं मन की स्थिरता प्राप्त होती है। चन्दनबाला की भी यही दशा हो रही है। उद्रेकात्=आधिक्यात्। तनुम्—अल्पम्। श्लथा—स्रस्ता अलसा वा। शिथिल, ढीला। काव्यलिंग एवं अर्थान्तरन्यास का सुन्दर उदाहरण है।

(८८)

आपातेष्टं भवति बहुधाऽनिष्टमन्ते जनानां,
पूर्वानिष्टं किमपि फलतः स्याद् विशिष्टार्थसिद्ध्यै।
दानोत्साहः क्षण-परिणतोऽजायतापूर्वकोऽस्या,
यत्रापूर्वाशय-परिणतिर्दुर्लभं तत्र किं स्यात्॥

अन्वय—बहुधा जनानाम् आपातेष्टम् अन्ते अनिष्टम् भवति। पूर्वानिष्टम् फलतः किमपि विशिष्टार्थसिद्ध्यै अभूत्। अस्याः दानोत्साहः अपूर्वको अजायत।

यत्र अपूर्वाशय परिणतिः तत्र किम् दुर्लभम् स्यात्।

अनुवाद–सामान्यतः मनुष्यों के लिए प्रारम्भिक काल (अथवा क्षणभर) में सुहावनी वस्तु अन्त में अनिष्टकारक बन जाती है। प्रथम ही प्राप्त अनिष्ट किसी विशिष्ट अर्थ की सिद्धि कराता है। चन्दनबाला का दानोत्साह (भिक्षा देने का उत्साह) क्षण भर में बढ़कर अपूर्व स्थिति को प्राप्त हो गया। जहाँ पर अपूर्व भावना (इरादा, इष्टप्राप्ति की इच्छा) प्रकट हो जाए वहाँ दुर्लभ क्या रह जाता है।

व्याख्या–यहाँ पर कवि यह निर्देश कर रहा है कि जिसकी मानसिक संकल्प शक्ति बलवती हो गयी, उसके लिए संसार में किंचित् वस्तु भी अप्राप्य नहीं रहती। चन्दनबाला के पहले दुःख मिला जो अपूर्व सिद्धि, भगवतत्साक्षात्कार का कारण बना।

आपातेष्टम्–क्षण भर या प्रारम्भ में इष्ट अर्थान्तरन्यास अलंकार।

(८९)

आस्थाबन्धं लघु विदधतौ दाढ्र्यभूमि–प्रतिष्ठं,
हस्तौ शस्तौ यतिगणपतेः प्रस्तुतौ भिक्षितुं तौ।
याभ्यां मासाः षडिव दिवसैः पञ्चभिः काममूना,
भिक्षातीताः सजलमशनं यापिता विस्मरद्भ्याम्॥

अन्वय–दाढ्र्यभूमि प्रतिष्ठम् आशाबन्धम् लघु विदधतौ यतिगणपतेः तौ शस्तौ हस्तौ भिक्षितुम् प्रस्तुतौ। सजलमशनम् याभ्याम् विस्मरद्भ्याम् इव पञ्चभिः दिवसैः ऊनाः षडमासा भिक्षातीताः यापिता।

अनुवाद–दृढ़भूमि पर प्रतिष्ठित आशा के बन्धन को हल्का (शिथिल) करते हुए यतिगणपति (महावीर) के श्रेष्ठ हाथ भिक्षा ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हुए। वे हाथ पाँच मास पच्चीस दिन बिना भिक्षा के बिताए मानो अन्न और जल को विस्मृत कर दिए हैं।

व्याख्या–आशाबन्ध दृढ़भूमि पर प्रतिष्ठित था कि भगवान् जरूर आएंगे। भगवान् जब भिक्षा के लिए आगे बढ़े तो चन्दनबाला को लगा कि अब मनोरथ पूर्ण होने वाला है। इसलिए आशा की गाँठ थोड़ी ढीली हुई। भिक्षा के लिए प्रसृत हाथों का सुन्दर बिम्ब उभरा है। उत्प्रेक्षा अलंकार है।

(९०)

एतौ पाणी सुचिरतपसा कार्श्यमायातवन्तौ,
माषान् वोढुं किमिह गुरुकान् शक्ष्यतश्चापि शक्तौ।
चिन्तामेतां मनसि दधती विस्मृतिं साऽथ निन्येऽ-
न्त्राणि व्यक्तं स्पृशति हृदयं यन्न गुढं कदाचित्॥

अन्वय- सुचिरतपसा एतौ शक्तौ पाणी कार्श्यमायातवन्तौ। किमिह गुरुकान् माषान् वोढुम् शक्ष्यतः च। सा अथ एताम् चिन्ताम् मनसि दधती अन्त्राणि विस्मृतिम् निन्ये। यत् व्यक्तम् हृदयम् स्पृशति गूढ़म् कदाचित्।

अनुवाद- दीर्घकाल के तप से सुदृढ़ (शक्तिमान) हाथ कृश हो गये हैं। क्या इन भारी उड़दों के बोझ को ढोने में समर्थ भी हो पायेंगे। वह चन्दनबाला इस प्रकार मन में चिन्ता करती हुई आँतों (पचाने में असमर्थ) को भूल गई। क्योंकि व्यक्त पदार्थ हृदय का संस्पर्श करता है, छिपा हुआ पदार्थ हृदय तक नहीं पहुँच पाता है।

व्याख्या- भगवान् के सुदीर्घ हाथ कृश हो गए हैं। उड़द के बोझ को ढो पाएँगे या नहीं - यह चिन्ता चन्दनबाला को सता रही है। हाथ व्यक्त हैं इसलिए उन पर चन्दना की दृष्टि पड़ी लेकिन आंत, जो छः महीने तक निराहार रहने के कारण कमजोर पड़ गई हैं। क्या वे उड़द को पचा पायेंगी, इस तरह का चिन्तन उसके मन में नहीं आया क्योंकि आँतें छिपी रहती हैं।

काव्यलिंग, अर्थापति और अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

(९१)

अर्थाः केचिद् ददति सुमहत् किञ्चिदादाय पुण्याः,
केचिद् दत्वाऽपि च न ददते व्यत्ययोऽसौ विधीनाम्।
तत् पाणिभ्यां विनय-विशदं वस्तु लब्ध्वा नगण्यं,
वस्तुव्रातैः प्रतिफलतया स्वामिनादाप्यगण्यम्॥

अन्वय-केचित् पुण्याः अर्थाः किञ्चित् आदाय सुमहत् ददति। केचिद् दत्वा अपि न ददते। असौ विधीनाम् व्यत्ययः। तत् पाणिभ्याम् विनय-विशदम् नगण्यम् वस्तु लब्ध्वा प्रतिफलतया वस्तुव्रातैः अगण्यम् स्वामिना अदायि।

अनुवाद-कुछ शुभ पदार्थ थोड़ा लेकर बहुत देते हैं। कुछ देने पर भी कुछ नहीं देते हैं। यह विधि का उल्टा (विचित्र) नियम है। स्वामी चन्दनबाला के हाथ से विनय से पवित्र नगण्य (उड़दादि) वस्तु को लेकर प्रतिफल में ऐसी उत्कृष्ट वस्तु दे दी जिसकी गणना अन्य वस्तुओं से नहीं की जा सकती।

व्याख्या-भगवान् श्रेष्ठ दानी हैं। थोड़ा लेकर उन्होंने चन्दनबाला को सब कुछ दे दिया। वस्तुव्रातैः=वस्तु समूहैः, पदार्थ समूह के साथ। अर्थान्तरन्यास अलंकार। प्रथम दो चरण में निबद्ध सामान्य का अंतिम दो चरणों के विशेष से समर्थन किया गया है।

(९२)

पाणी दात्र्याः प्रमद-विभव-प्रेरणात्कम्पमानौ,
स्निग्धौ क्वापि व्यथितपृषता माषसूर्पं वहन्तौ।
आदातुस्तौ दृढतमबलात् सुस्थिरौ सानुकम्पौ,
सद्योऽकाष्टां हृदयसजलौ सूर्पमाषान् वहन्तौ॥

अन्वय-प्रमदविभव प्रेरणात् कम्पमाणौ व्यथितपृषतास्निग्धौ क्वापि माससूर्पम् वहन्तौ दात्र्याः पाणी तौ दृढ़तमृबलात् सुस्थिरौ सानुकम्पौ हृदयसजलौ सूर्पमाषान् बहन्तौ सद्यो अकाष्याम्।

अनुवाद-हर्षाधिक्य से प्रेरित होकर काँपते हुए, व्यथा की बूँदों से स्निग्ध एवं छाज के उड़द को लिए हुए दात्री (चन्दनबाला) के हाथो ने भगवान के दृढ़ बल से स्थिर अनुकम्पा युक्त एवं हृदय से सजल हाथों को छाज के उड़द को लिए हुए शीघ्र ही बना दिया।

व्याख्या-भिक्षादान का सुन्दर वर्णन है। चन्दनबाला ने शीघ्र ही अपने हाथ में स्थिर उड़द को भगवान् के हाथों में समर्पित कर दिया। अनेक साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग है इसलिए परिकर अलंकार है।

व्यथितपृषता=व्यथा की बूँदें। रूपक अलंकार। प्रमदविभव प्रेरणात्=प्रमदोहर्षः तस्य विभवेन धनेन आधिक्येन प्रेरणात्-प्रचोदनात्।

(९३)

सद्योजातं स्थपुटमखिलं प्रांगणं रत्नवृष्ट्या,
त्रुट्यद्‌बन्धं गगनपटलं जातमेतत् प्रतीतम्।
तर्कक्षेत्रं भवतु सुतरामेष योगानुभाव-
स्तद्‌भाग्याभ्रे रविरुद्‌गमत् स्पष्टमद्याऽपि तत्तु॥

अन्वय-रत्नवृष्टया अखिलम् प्रांगणम् सद्यः स्थपुटम् जातम्। गगनपटलम् त्रुट्यद्‌बन्धम् एतत् प्रतीतम् जातम्। एष योगानुभावः सुतराम् तर्कक्षेत्रम् भवतु। तत् भाग्याभ्रे रविः उद्‌गमत् तत् तु अद्यापि स्पष्टम्।

अनुवाद-रत्नों की वृष्टि से चंदनबाला के घर का सारा आँगन ऊबड़-खाबड़ हो गया। ऐसा प्रतीत हुआ कि आकाश के बन्धन टूट गए हों। यह योग का प्रभाव भले ही तर्क का विषय बने लेकिन उसके भाग्याकाश में सूर्य का उदय हुआ, यह आज भी स्पष्ट है।

व्याख्या-चन्दनबाला का भाग्योदय हुआ। उसके घर में रत्नों की बरसात हो गयी।

भाग्याभ्रे=भाग्याकाशे। भाग्य रूप आकाश में-रूपक अलंकार।

गगनपटलम् त्रुट्यद्बन्धम्=आकाश के मानों बन्धन टूट गए हों-उत्प्रेक्षा अलंकार। रत्न वर्षा से प्रांगण स्थपुट =उबड़-खाबड़ हो गया-काव्यलिंग अलंकार।

सद्यः, सुतराम्, तु, अद्य, अपि आदि अव्यय पद हैं। साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग से परिकर अलंकार है।

(९४)

गाढामिच्छां बहुलसमयेऽपि प्रयत्नैरपूर्णां,
ये जानन्ति स्वमतिरचितां ताड़ितां क्रूरविघ्नैः।
तेऽर्हा अत्रानुभवितुमिमां वेदनां चन्दनाया-
स्तीव्रान् यत्नांल्लघु-विसृमरां चेतसोऽधीरताञ्च॥

अन्वय-बहुलसमये प्रयत्नैः अपि अपूर्णाम् स्वमतिरचिताम् क्रूरविघ्नैः ताड़िताम् गाढाम् इच्छाम् ये जानन्ति ते चन्दनायाः तीव्रान् यत्नान् इमाम् लघु-विसृमराम् वेदनाम् चेतसोऽधीरताम् च अनुभवितुम् अर्हा।

अनुवाद-बहुत समय से अनेक प्रयत्न करने के बाद भी अपूर्ण, अपनी मति से विरचित, क्रूर विघ्नों से पीड़ित तीव्र इच्छा (चन्दनबाला की तीव्र इच्छा) जो और शरीर में शीघ्र फैलने वाली इस वेदना को तथा चित्त की अधीरता को अनुभव कर सकते हैं।

व्याख्या-इस श्लोक में परिकर, काव्यलिंग, विभावना, विशेषोक्ति आदि अलंकार हैं।

(९५)

प्राप्तेष्टानां प्रभवति मतौ कोप्यपूर्वः प्रमोद-
स्तस्मिन् मग्ना अपि सुपटवः प्रस्मरन्तीति दुःखम्।
प्रस्मृत्यैतन्निकृति-कुटिलं कः सुखं प्राप लोके,
दुःखे यस्य स्मृतिरविकला तेन तत्तीर्णमाशु॥

अन्वय-प्राप्तेष्टानाम् मतौ कोऽपि अपूर्वः प्रमोदः प्रभवति तस्मिन् मग्नाः सुपटवः अपि दुःखम् प्रस्मरन्ति इति। एतत् निकृति-कुटिलम् प्रस्मृत्य लोके कः सुखम् प्राप। तेन दुःखे यस्य स्मृतिः अविकला तत् आशु तीर्णम् (भवति)।

अनुवाद-इष्ट वस्तु को प्राप्त करने वाले व्यक्तियों के मन में अनिर्वचनीय और अपूर्व प्रमोद उत्पन्न होता है। उसमें मग्न होकर विचक्षण व्यक्ति भी अपने दुःखों को भूल जाते हैं। परन्तु इस अधम कुटिल दुःख को भूलकर संसार में कौन सुख प्राप्त कर सकता है। इसलिए जिसे दुःख की स्मृति अविकल बनी रहती है वही दुःख को शीघ्र पार कर सकता है।

व्याख्या-संसार में जब कभी अचिन्त्य फल की प्राप्ति होती है, व्यक्ति अपूर्व आनन्द के सागर में निमज्जित होने लगता है। सुख में तल्लीन होने से दुःख की स्मृति समाप्त हो जाती है। लेकिन सुख के खत्म होते ही केवल दुःख ही अवशिष्ट रहता है। परन्तु जो लोग सुख काल में भी दुःख को याद रखते हैं वे दुःख को पार कर जाते हैं। प्रमोदः प्रभवति- उपचार वक्रता का उत्कृष्ट निदर्शन है। तस्मिन्-इति-काव्यलिंग अलंकार। तेन दुःखे- अर्थान्तर-न्यास अलंकार। कः सुखं प्राप्त में अर्थापति अलंकार। प्रमोदः प्रभवति अनुप्रास। आशु-शीघ्र। प्रस्मरन्ति=विस्मरन्ति। अविकला=अक्षीणा, अनवचिता वा।

(९६)

दु:खस्याङ्को द्रवकपृषता द्रावयेयु: परांस्ते,
नैतच्चित्रं भवति परुष: कोऽपि तद्वान् विचित्रम्।
अस्याश्चेतो विसदृशतमं सौकुमार्यं बभाज,
तस्थौ दीर्घं समयमतुलं यत् कठोरं निसर्गात्।।

अन्वय—द्रवक पृषता: दु:खस्याङ्क: ते परान् द्रावयेयु: न एतत् चित्रम् भवति। कोऽपि तद्वान् परुष: विचित्रम्। यत् अस्या: चेत: दीर्घम् समयम् निसर्गात् अतुलम् कठोरम् (तत्) विसदृशतमं सौकुमार्यम् बभाज।

अनुवाद—आँसू की बूंदें दु:ख का चिह्न है। वे दूसरों को द्रवित कर दें इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। लेकिन कोई वैसी स्थिति में भी कठोर बना रहे— यह विचित्र बात है। चन्दनबाला का चित्त दीर्घकाल से दु:ख सहने के कारण स्वभाव से अधिक कठोर हो गया था, वह आज विसदृश (असाधारण) सौकुमार्य को धारण करने लगा (परिपूर्ण हो गया)।

व्याख्या—द्रवक पृषता-वाष्पकणा: अस्रुलवा: वा, आँसू के बूँद। पृषत=बूँद, द्रवक=आँसू। अंक=चिह्न, चित्रम्=आश्चर्यम्।

परुष=काठिन्यम्। कठोर। उपचार वक्रता का उदाहरण। काव्यलिंग अलंकार का सुन्दर उदाहरण।

(९७)

छिन्नो बन्ध: करचरणयोर्नात्मन: किन्तु गूढ:,
सौन्दर्यं तद् वपुषि हसितं प्राक्तनं नात्मनस्तु।
धारा सृष्टा सकरुणदृशो: स्रोतसो नाऽसुखानाम्,
पश्यन्त्यूर्ध्वं पलमपि न सा निम्नभावेषु मूढा॥

अन्वय—करचरणयो: बन्ध: छिन्न: किन्तु आत्मनो गूढ:। तत् प्राक्तनम् सौन्दर्यम् वपुसि हसितम् न आत्मन:। सकरुणदृशो: धारा मृष्टा न असुखानाम्

स्रोतसः। सा ऊर्ध्वम् पश्यन्ती पलमपि निम्नभावेषु न मूढा।

अनुवाद—हाथ और पैरों का बन्धन [illegible] हो गया लेकिन आत्मा का बन्धन गूढ़ (कठोर) हो गया। उसके शरीर पर प[illegible] का सौन्दर्य खिल गया लेकिन आत्मा का सौन्दर्य नहीं निखरा। करुणापूर्ण आँखों की धारा (आँसूओ की धारा) समाप्त हो गयी लेकिन दुःख का प्रवाह समाप्त नहीं हुआ। वह चन्दनबाला ऊपर देखती हुई क्षणभर के लिए भी निम्न भावों (क्षणिक सुख, रत्नों की बरसात, क्षणिक हर्ष) में आसक्त नहीं हुई।

व्याख्या—साधक जब तक अपनी साधना को पूर्ण नहीं कर लेता तब तक वह सदा अप्रमत्त बना रहता है। चन्दना के घर में रत्न की वर्षा हुई लेकिन वह आसक्त नहीं हुई, सदा भगवान् की ओर अपनी दृष्टि लगाए रही। विभावना, विशेषोक्ति, विरोधाभास आदि अलंकार हैं। उपचार वक्रता-वपुसि हसितम्।

(९८)

पक्वान्नानि प्रचुर-विभवे भुक्तपूर्वाणि राज्ये,
नानाहारश्चरण-पदवीं सेवमानस्य जातः।
स्निग्धा दृष्टेर्नवजलकणैर्हृद्व्यथासंप्रसूतै-
रद्याप्युच्चैः स्मरणविषयाः केवलं सन्ति माषाः॥

अन्वय—प्रचुरविभवे राज्ये पक्वन्नानि भुक्तपूर्वाणि। सेवमानस्य नाना आहारश्चरणपदवीं जातः। हृदयव्यथा सम्प्रसूतैः दृष्टेः नवजल कणैः स्निग्धा माषाः अद्यापि उच्चैः स्मरणविषयाः केवलम् सन्ति।

अनुवाद—प्रचुर धनधान्य सम्पन्न अपने राज्य में (दीक्षापूर्व) भगवान् महावीर ने पहले मिष्टान्न भोजन किया। दीक्षा सेवन करते हुए (दीक्षा लेने के बाद भी) नाना प्रकार के आहार-आचरण विधि को ग्रहण किया। परन्तु हृदय व्यथा से उत्पन्न आँखों के नव जल कणों से स्निग्ध उड़द ही केवल आज भी श्रेष्ठजनों के लिए स्मरण के विषय बने हुए हैं।

व्याख्या—कवि यह स्पष्ट कर रहा है कि जिस वस्तु का सम्बन्ध हृदय से होता है वह तुच्छ होते हुए भी बहुमूल्य बन जाता है। काव्यलिंग अलंकार। विभावना, विशेषोक्ति और परिकर अलंकार।

(९९)

भारं प्राप्य प्रकट-विपदां स्नेहभाजां वियोगं,
चिन्ताञ्चालं वहति बहुधा वाष्पधारा बहूनाम्।
क्षुत्-क्षामायाः कथमपि घसेरग्रहाद् भिक्षुणाहि,
श्रद्धाढ्याया नयन-सलिलं स्मार्यमद्यापि भूयः॥

अन्वय—प्रकट विपदम् भारम् स्नेहभाजाम् वियोगम् अलम् चिन्ताम् च प्राप्य बहुधा बहूनाम् वाष्पधारा वहति। भिक्षुणा घसेः कथमपि अग्रहात् श्रद्धाढ्यायाः क्षुत्क्षामायाः नयनसलिलम् अद्यापि भूयः स्मार्यम्।

अनुवाद—उत्पन्न विपत्ति, स्नेहशील व्यक्तियों के वियोग एवं पर्याप्त चिन्ता को प्राप्त कर बहुत लोगों की विविध रूप से आँसुओं की धारा बहने लगती है। (उसे कौन याद करता है) परन्तु भगवान् द्वारा भोजन नहीं ग्रहण किए जाने पर उत्पन्न श्रद्धा से परिपूर्ण और क्षुधा से कृश चन्दनबाला के आँसू आज भी बार-बार स्मरण किए जाते हैं।

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में काव्यलिंग, विभावना, विशेषोक्ति, परिकर आदि अलंकारों का सुन्दर विनियोजन हुआ है। घसेः-ग्रास के, अग्रहात्-नहीं लेने पर।

(१००)

जाता यस्मिन् सपदि विफला हावभावा वसानां,
कामं भीमा अपिच मरुतां कष्टपूर्णाः प्रयोगाः।
तस्मिन् स्वस्मिंल्लयमुपगते वीतरागे जिनेन्द्रे,
मोघो जातो महति सुतरामश्रुवीणा-निनादः॥

अन्वय—यस्मिन् वसानाम् हावभावाः मरूताम् कष्टपूर्णाः भीमा प्रयोगाः अपि च सपदि विफला जाता तस्मिन् स्वस्मिन् लयम् उपगते महति वीतरागे जिनेन्द्रे अश्रुवीणा निनादः सुतराम् मोघो जाताः।

अनुवाद—जिसमें युवतियों के हाव-भाव (काम-चेष्टा), देवों (मरूतों) के कष्टपूर्ण भयंकर प्रयोग (उपसर्गादि) शीघ्र ही विफल हो गए, उस आत्मलीन महान् वीतराग जिनेन्द्र में अश्रुवीणा की ध्वनि सफल हो गयी।

व्याख्या—कठोर से कठोर व्यक्ति भी आँसुओं की धारा में बह जाते हैं। जिसने भी अपने प्रिय को प्राप्त किया सब आँसुओं के धार पर ही अपने प्रियतम प्रभु के पास पहुँच गए। आँसू में अदम्य शक्ति है। परिकर अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

(१०१)

तेरापन्थः सुविहितगणो मातृभूरस्ति यस्य,
भिक्ष्वाद्यार्यैं विमलमतिभि-र्नीयमानः प्रकर्षम्।
रोहं कालोः प्रवर-तुलसी यं फलाढ्यं करोति,
सोऽहं धन्यो मुनिनथमलः काव्य-लीलामकार्षम्॥

अन्वय—यस्य सुविहितगण तेरापन्थः मातृभूरस्ति (यः तेरापन्थः) विमलमतिभिः भिक्ष्वाद्याचार्यैः प्रकर्षम् नीयमानः। यं कालोः रोहम् प्रवरतुलसी फलाढ्यम् करोति। सोऽहम् धन्यः मुनिनथमलः काव्यलीलाम् अकार्षम्।

अनुवाद—जिसकी सुविहितगण तेरापंथ मातृभूमि है, (जो तेरापथ) विमलमति वाले भिक्षु आदि आचार्यों के द्वारा प्रकर्ष को प्राप्त हुआ है। कालुगणि के जिस अंकुर को प्रवर तुलसी ने फल युक्त बनाया वह मैं मुनि नथमल ने काव्य लीला (काव्य विरचना) की।

व्याख्या—इसमें कवि ने अपनी उदात्त परम्परा का परिचय दिया है। सुन्दर गण तेरापंथ कवि की जन्मस्थली है। मातृभूमि है। कवि का नाम मुनि नथमल है, जो कालुगणि से दीक्षित होकर प्रवर तुलसी के आश्रम में बढ़ा। इस श्लोक में कवि की श्रद्धाशीलता उद्घाटित है। परिकर अलंकार, उदात्त अलंकार का सुन्दर उदाहरण है।

लीला=विनोद, आनन्द।

काव्यलीलाम्=काव्यानन्दम्। काव्यानन्द को।

रोह=अंकुर।

देवसुन्दरी व्याख्या से सम्पूर्णा

श्लोकानुक्रमणिका

अग्रे चेतः स्फुरितमधुना भावि युष्मद् ग्रहाय - 41
अर्थाः केचिद् ददति सुमहत् किञ्चिदादाय पुण्याः - 91
अद्यायातो व्रजति भगवान् दुःस्थितां मामुपेक्ष्य - 77
अन्तर्वेदी प्रकरणपटुः किंस्विदत्राऽनुरोध्यो - 27
अन्तस्तापो बत भगवते सम्यगावेदनीयो - 29
अन्धा श्रद्धा स्पृशति च दृशं तर्क एषाऽनृता धीः - 73
अम्भोबाहा विघटनमिमे जृम्भणं चापि यान्ति - 67
अक्षज्ञाने क्वचिदथ भवेत् संशयो व्यत्ययो वा - 42
अत्राणानां त्वमसि शरणं त्राहिमां तायिन् - 16
आपातेष्टं भवति बहुधाऽनिष्टमन्ते जनानां - 88
आयातोऽपि व्रजति बहुलो याति लोको यथेच्छं - 76
आलोकाग्रे वसतिममलामश्रयध्वेऽपि यूय - 28
आशाबन्धं लघु विदधतौ दार्ढ्यभूमि-प्रतिष्ठं - 89
आशावल्लया इव दददवष्टम्भमुच्चैः पतन्त्या - 51
आश्वस्तापि क्षणमथ न सा वाष्पसङ्गं मुमोच - 52
आशास्थानं त्वमसि भगवन् ! स्त्रीजनानामपूर्वं - 14

इष्टे शश्वन् निवसति जने मन्दतामेति हर्ष - 17
ईषत् स्पृष्ट्वा रविरपि नभस्तेजसा हिप्रयाति - 47
उन्मत्ता नां दिनमथ निशा नैति कञ्चिद्विशेषः - 66
एते तारा वियति विततः सन्ति संप्रेक्षणीया - 79
एते शब्दा निशितविशिखा मन्मथस्येति मत्वा - 44
एतौ पानी सुचिरतपसा कार्श्यमायातवन्तौ - 90
एषा बद्धा नृपति-दुहिता नेति किञ्चिद् विचित्रं - 82

कायं चिन्वंल्लसति विशदं कल्पनानां निकायो - 12
किञ्चिनोक्तं न खलु मृदुलाऽपैक्षि तद्भावनाऽपि - 20
क्रीता कन्या नृपतितनया मुण्डिता चिह्नितापि - 8
केयं माया व्यरचि विधिना भ्रान्तिराहो प्रवृत्ता - 54
कुल्माषा नाऽजनिषत तवेतः प्रतिक्रान्तिहेतुः - 78
खेदं स्वेदो बहिरपनयञ्जात आकस्मिकेन - 10
गर्भेप्पर्मस्त्वमिह भगवन् ! मातरञ्चानुकम्प्य - 58
गाढामिच्छां बहुलसमयेऽपि प्रयत्नैरपूर्णां - 94
घोरे तापे सततमवहद् वाष्पधारा विचित्रं - 63
चन्डश्चण्डं गलमुपनतस्त्वां दशन् कौशिकोऽपि - 15
चक्षुः कामं सुपटुकरणं दूरतोऽपि प्रकाशि - 39
चक्षुर्युग्मं भवति सुभगैः क्षालितं यस्य वाष्पैः - 84
चक्षुर्बाह्यां प्रतिकृतिमिमां पश्यति स्वप्रभाभिः - 74
चित्रा शक्तिः सकलविदिता हन्त युष्मासु भाति - 24
चित्रं चित्रं तव सुमृदवः प्राणकोशास्तथापि - 5
छिन्नो बन्धः करचरणयोर्नात्मनः किन्तु गूढः - 97
ज्येष्ठभ्रातुर्नयनसलिलं त्वामरौत्सीद्दिदीक्षुं - 59
जाता यस्मिन् सपदि विफला हावभावा वसानां - 100
जीवाजीवैरपि तदुभयैर्यूयमुत्पद्यमाना - 34

तद् युष्माभिः पुनरपिपुनः पूरणीयं सयत्नं - 40
तत्रानन्दः स्फुरति महान् यत्र वाणीं श्रिताऽसि - 3
तीव्रं नग्नं करणमनिलं फाल्गुनं वेगवन्तं - 62
तेरापन्थः सुविहितगणो मातृभूरस्ति यस्य - 101
दृश्यं पुण्यं चरति सततं पादचारेण सोऽयं - 25
दग्धोत्स्विन्ना प्रबलदहने पूपिकेयं प्रभूतं - 71
दद्यात् भोक्ष्ये ध्रुवमितरथा नाहरिष्यामि किञ्चित् - 19
दुःखस्याङ्को द्रवकपृषता द्रावयेयुः परांस्ते - 96
धन्यं धन्यं शुभदिनमिदं विद्युता द्योतिताशः - 11

धन्या निद्रा स्मृति-परिवृढं निह्नुते या न देवं - 49
ध्येयं सम्यक् क्वचिदपि न वा न्यून सज्जा भवेत- 31
ध्येयं सैषोऽवगणयति तान् कामिनीनां कटाक्षान् - 43
नान्तः प्रेक्षा विकचनयनेऽप्यामयोऽसौ विसंज्ञः - 80
निर्ग्रन्थानामधिपतिरसौ पश्चिमस्तीर्थनाथो - 7
निश्छिद्रेऽस्मिन् भगवति पुनश्छिद्रमन्वेषयेयुः - 32
नैराश्येन ज्वलति हृदये तापलब्धोद्भवानां - 50

पक्वान्नानि प्रचुरविभवे भुक्तपूर्वाणि राज्ये - 98
प्रत्येकस्मिन् नियतमुभयोः पार्श्वयो सन्ति कुम्भाः - 65
पाणी दात्र्याः प्रमदविभव-प्रेरणात्कम्पमानौ - 92
प्राप्तेष्टानां प्रभवति मतौ कोप्यपूर्वः प्रमोद - 95
प्राप्याऽप्राप्य प्रथमपलकेऽन्तर्गतानां व्यथानां - 55
प्रायो लोकः प्रकृतकुशलो नैव कर्त्तव्यदक्षः - 70
पीडाकूले जिनवरमसौ दीर्घनिःश्वासवात - 61
पूर्वं देहस्तदनुवसनं मृद्मरुच्चातपोऽपि - 30
बद्धा क्रूरं कर चरणयो शृंखलैरायसैर्हा - 57
बोद्धुं नालं स्वमतिरचिते जीवनस्याध्वनीह - 64
भक्त्युद्रेकात् स्मृतिमपि तनुं नाप्यकार्षीत् क्षुधाया - 87
भद्रं भूयात् पथिविचरतां श्रेयसे प्रस्थितानां - 45
भारं प्राप्य प्रकटविपदां स्नेहभाजां वियोगं - 99
भावावाच्या वचनचतुरैर्वैखरीं प्राप्य वृत्ति - 38
भिक्षां लब्धु प्रसृतकरयोः सम्प्रतीक्षापटुभ्यां - 18
भेदो भावी प्रथम समये तत्र चिन्ता न कार्या - 36
मूका पृथ्वी स्थगनमनिलाः प्रापुराङ्कितोऽभूद् - 85
मूर्च्छां प्राप्य क्षणमिह पुनर्लब्धचित्तोदयेव - 22

यत् सापेक्षा जगति पुरुषैर्योषितः शक्तिमद्भिः - 68
यां मन्येऽहं सदयहृदयां मातरं निश्छलात्मा - 81

राज्यं त्यक्तुं परनृपतिना पारवश्यं प्रणीता - 56
लोकस्यान्ता अविरलमितः स्पर्शनीयाः क्षणेन - 37
वाणी वक्त्रान्न च बहिरगात् योजितौनापि पाणी - 21
वाष्पा जाताः प्रकृतसफलश्चापि निःश्वासशब्दाः - 53
वाष्पाः ! आशु व्रजत नयतेक्षध्वमेष प्रयाति - 23
सत्सम्पर्का दधति न पदं कर्कशा यत्र तर्काः - 4
सद्योजातं स्थपुटमखिलं प्रांगणं रत्नवृष्ट्या - 93
सद्यो वातावरणमखिलं क्षोभयन्त्यो लहर्यो - 35
स्फूर्त्यमानः प्रसरणसहा भेदसंघातजाताः - 33
स्मर्तव्यं तद् यतिपतिरसौ पूतभावैकनिष्ठो - 26
सर्वा सम्पद् विपदि विलयं निर्विरोधं जगाम - 13
स्वर्णाभूषा किमपि न चिरादायसी शृंखलाऽभ् - 83
स्वामिन्नुच्चस्त्वमसि सुतरामग्रहात् प्रस्तराणां - 72
स्त्रीणां प्राणा न खलु विशदं मूल्यमाधारयन्ति - 69
संयोगातेऽनुभवति नरः पारमञ्चामरेन्द्रम् - 2
शोषं पृथ्वी नयति पवनो वा द्रवं तापनोऽपि - 86

श्रद्धाभाजां भवति मसृणं मानसं यावदेव - 19
श्रद्धावृत्तं लिखितमधुनाप्यस्ति वाष्पाम्बुमष्या - 6
श्रद्धासुता प्रतिकृतिरलं स्यान्न पूजास्पदानाम् - 48
श्रद्धाश्रूणि प्रकृतिमृदुता मानसोद्घाटनानि - 46
श्रद्धे ! धीरं व्रज भगवतः पार्श्वदेशे मुमुक्षो - 75
श्रद्धे ! मुग्धान् प्रणयसि शिशून् दुग्धदिग्धास्यदन्तान् - 1
श्रद्धेयानामधिकृतमिदं चित्रमस्ति प्रभुत्वं - 60

परिशिष्ट-2

अश्रुवीणा की सूक्तियां

अतिप्रयोगो निषिद्धः - 78

अन्तः सारा: सहजसरसा यच्च पश्यन्ति गूढा।

नन्तर्भावान् सरसमरसं जातु नो वस्तु जातम्।। - 16

आत्मा प्राप्यो भवति हि जनैस्तर्कणामस्पृशद्भिः - 74

आशास्थानं त्वमसि भगवन्! स्त्रीजनानामपूर्वम् - 14

इष्टे शश्वन् निवसति जने मन्दतामेति हर्ष

स्तस्यानिष्टेऽप्यनुभवलवो नैव सञ्चेतितः स्यात् - 17

कार्यारम्भे फलवतिपलं न प्रमादो विधेयः

सिद्धिर्वन्ध्या भवति नियतं यद् विधेयश्लथानाम् - 27

को जानीयाज्जगति महतां साशयं चेष्टितानि - 58

चक्षुर्युग्मं भवति सुभगैः क्षालितं यस्य वाष्पैः

तस्यैवान्तः करणसहजा वृत्तयः प्रेरयेयुः - 84

चिन्तापूर्वं कृतपरिचया एव सख्यं वहेरन् - 41

चैतन्यं कोहरति न खलूद्बोधयेत् कश्चिदेकः - 71

तर्कैणाऽभा न खलु विदितस्तेऽनवस्थानहेतुः - 1

त्राणं यस्माद् भवति न च भूःक्षीणमूलान्वयानाम् - 30

दुःखे यस्य स्मृतिरविकला तेन तत्तीर्णामाशु - 95

दैवेवक्रे भवति हि जगत् प्राञ्जलञ्चापि वक्रम् - 59

नासंभाव्यं किमपि हि भवेद् पूतवंशोदयानाम् - 50

प्रत्यासत्या भवति निखिलाऽभीष्टसिद्धेर्निमित्तम् - 15
प्रारब्धव्यो लघुरथ गुरुर्वा विधिः संविमृश्य - 39
प्रारम्भोत्का जगति बहवोऽल्पेहि निर्वाहकाः स्युः - 47
प्लुष्टो लोकः पिबति पयसा फूत्कृतैश्चापि तक्रम् - 52
भक्त्यादेशा प्रकृतिकृपणाऽकिञ्चनैर्निर्विशेषा - 13
यत्रापूर्वाशय-परिणतिर्दुर्लभं तत्र किम् स्यात् - 88
यन्नोश्रद्धा विरचितमहो गाहनीयं विकल्पैः - 83
यन्नोप्रेक्ष्या ध्रुवमतिथयः सङ्गमार्थाः प्रबुद्धैः - 40
यन् मूकानां न खलु भुवने क्वापि लभ्या प्रतिष्ठा - 31
यस्माद् रंहः सहनमुचितं स्वोदयस्य प्रसिद्ध्यै - 62
श्रद्धापात्रं भवति विरलस्तेन कश्चितपस्वी - 5
श्रद्धाभाजां भवतिमसृणं मानसं यावदेव
श्रद्धापात्रैः प्रचरतिसमं रूक्षभावोऽपि तावान् - 19
श्रद्धारेखा भवति खचिता नैकरूपा जनानाम् - 9
श्रद्धास्वादो न खलु रसितो हारितं तेन जन्म - 4
सर्वे सूक्ष्माः परमगुरुताऽभूत् प्रतीक्षा क्षणानाम् - 87
सा का श्रद्धा न खलु जनयेद् विस्मृतिं स्थूलतायाः - 82
सापेक्षाणामपरमपरं स्याज्जगत्तत्परेषाम् - 46
स्थायी प्रेयान् न भवति यतश्चञ्चलप्रेक्षकानाम् - 80